दिनकर
एक पुनर्मूल्यांकन

अक्षरा 53.

विजेन्द्र नारायण सिंह

दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन

प्रो० विजेन्द्र नारायण सिंह
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

परिमल प्रकाशन
१६४, सोहबतियाबाग, इलाहाबाद-६

श्रेष्ठ आलोचक
श्री शिवदान सिंह चौहान को
सादर, सप्रेम समर्पित

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में आलोच्य कवि दिनकर को देखने का एक सर्वथा नवीन और मौलिक प्रयास है। हिन्दी के सभी आलोचकों ने दिनकर को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ नत्थी कर दिया है। हम मानते हैं कि कविताओं में विचारों को शिल्प से अलग कर नहीं देखा जा सकता है। दिनकर या किसी भी और कवि के विचार बड़े ही ताजे, ज्वलन्त और महत्वपूर्ण हो सकते हैं पर काव्यालोचन के प्रसंग में शायद ही उनकी मीमांसा का कोई औचित्य हो। हिन्दी का काव्यालोचन इसीलिए अभी तक विषयप्रधान ही है, वह समाज-शास्त्र और दर्शन के क्षेत्र में भटक जाता है। इस पुस्तक में कदाचित् हिन्दी काव्यालोचन में प्रथम बार दिनकर की राष्ट्रीय भावना को शिल्प के निकष पर कसा गया है। मेरा विनम्र निवेदन है कि हिन्दी के सुधी विद्वान इस प्रयास को थोड़ा सहृदयतापूर्वक देखने का कष्ट करें।

हम मानते हैं कि काव्यालोचन का क्षेत्र वीर-पूजा का क्षेत्र नहीं होता है। कोई व्यक्ति यदि निराला के प्रति असीम श्रद्धा रखता है और उनके चित्र की रोज आरती उतारता है तो यह एक श्रद्धास्पद बात है, किन्तु यदि कोई आलोचक निराला पर लिखी गयी अपनी आलोचना-पुस्तक का नाम 'काव्य का देवता : निराला' रखता है तो यह एक गलत बात है। उसी प्रकार 'युग-चारण दिनकर', 'जनकवि दिनकर', 'युगकवि दिनकर' आदि नामकरण भ्रामक और भ्रष्ट हैं। पुस्तक के ये सभी नामकरण उतने ही गलत हैं जितना कि 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि'। हमारी राय में दिनकर के कुछ आलोचक काव्या-लोचन की अपेक्षा यदि राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास लिख देते तो दोनों का अधिक उपकार होता।

कोई कवि और उसकी महिमा निःसंग चीज नहीं होती है। इसलिए किसी भी कवि का मूल्यांकन उसे सारे इतिहास से विच्छिन्न कर नहीं किया जा सकता। यदि दिनकर को भी इतिहास की सुदीर्घ परम्परा में रख कर समझने का प्रयास किया गया होता तो आलोचकों को इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता कि वे न तो महाकवि हैं और न युगकवि। वे आधुनिक युग के अत्यन्त महत्वपूर्ण गौण कवि हैं। हम मानते हैं कि गौण कवियों का अध्ययन इतिहास की पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

इस पुस्तक में पहली बार १९६० ई० के बाद प्रकाशित होने वाले उनके काव्यों का विश्लेषण किया गया है। साथ ही 'कुरुक्षेत्र' पर भी दो निबन्ध दिये गये हैं। एक अध्याय में केवल दिनकर के सर्प-बिम्बों पर विचार किया गया है। मुझे विश्वास है कि पाठक इस अध्याय को बड़ा ही मनोरंजक पायेंगे।

इस पुस्तक के लेखन के क्रम में मुझे जिन व्यक्तियों से सहायता मिली है मैं उन सभी व्यक्तियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। 'कोयला और कवित्व' की एक कविता 'नदी और पीपल' के विश्लेषण में मुझे अंग्रेजी विभाग के विद्वान प्रोफेसर श्री चन्देश्वर प्रसाद सिन्हा का पूर्ण सहयोग मिला है। उसी प्रकार सर्प-बिम्बों के विश्लेषण में अंग्रेजी की दो-चार पुस्तकें दे कर प्रोफेसर श्री विद्यानाथ मिश्र ने मेरा बड़ा ही उपकार किया है। मैं इन दोनों महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ। इतिहास विभाग के प्रोफेसर श्री सी० पी० एन० सिंह (इसी संक्षिप्त नाम से वे अधिक विख्यात हैं) का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनकी सलाह माँगे बिन-माँगे मुझे मिलती रही है। पटना कॉमर्स कॉलेज के प्राध्यापक डॉ० सियाराम तिवारी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। किन्तु मैं सबसे अधिक कृतज्ञ अपनी पत्नी श्रीमती कनकलता सिंह का हूँ जिन्होंने बड़े मनोयोगपूर्वक पुस्तक की सारी पांडुलिपि तैयार की है। यशस्वी कवि श्री राम-सेवक चतुर्वेदी शास्त्री ने पांडुलिपि में कुछ आवश्यक सुधार कर मेरा बड़ा ही उपकार किया है। मेरा ख़याल है कि भाषा के उनके जैसे पारखी अब कम लोग रह गये हैं।

किन्तु सबसे अधिक कृतज्ञ मैं उन अज्ञातनामा पाठकों का हूँ जिन्होंने मेरी पहली आलोचना-पुस्तक 'उर्वशी : उपलब्धि और सीमा' का हृदय से स्वागत किया है। लेखक के वे सबसे बड़े मित्र होते हैं, सबसे बड़े आलोचक और सबसे बड़े विज्ञापन करने वाले। मेरा अनुरोध है कि जिन लोगों ने मेरी पहली पुस्तक पढ़ने का कष्ट उठाया वे इसे भी अवश्य देख जायँ।

मैं परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद के स्वनामधन्य संचालक श्री शिव-कुमार सहाय जी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने बड़े मनोयोगपूर्वक पुस्तक को अच्छी तरह प्रकाशित करने का कष्ट उठाया है।

शकुन्तला भवन
मन्दरोजा
भागलपुर—२

विजेन्द्र नारायण सिंह
१५ अगस्त १९६५

अनुक्रम

दोस्त मेरी पुरानी ही कविताएँ पसन्द करते हैं;
दोस्त, श्रौर खास कर, श्रौरतें

—दिनकर

सुकुमार कल्पना के कवि

दिनकर वस्तुत: कोमलता और सुकुमारता के कवि हैं। किन्तु, हिन्दी आलोचना कितनी निर्वीर्य और हततेज बन गई है, इसका उदाहरण 'उर्वशी' के सम्बन्ध में हिन्दी आलोचकों की राय है। हिन्दी के कई आलोचकों ने उर्वशी के प्रकाशन को एक आकस्मिक घटना मान लिया।[1] हिन्दी आलोचना काव्यालोचन के क्षेत्र में अब भी विषय प्रधान है, शिल्प की बारीकियों में अब तक वह उतर नहीं पायी है। दिनकर के सभी आलोचकों ने, शिवबालक राय[2] से डॉ० सावित्री सिन्हा[3] तक, राष्ट्रीय भावना की पृष्ठभूमि में दिनकर का सतही विश्लेषण उपस्थित कर अपनी अहम्मन्यता को संतोष दिलाया है। प्रो० कामेश्वर शर्मा[4] ने दिनकर के प्रारम्भिक व्यक्तित्व को उछालकर और स्वातंत्र्योत्तर व्यक्तित्व की अवमानना कर यदि पाठकों के एक बड़े समुदाय तथा स्वयं कवि को भी गुमराह कर दिया तो डॉ० सावित्री सिन्हा ने भारतीय स्वातंत्र्य-इतिहास के तथ्यों को नत्थी कर काव्यालोचन की सीमा का अतिक्रमण किया।

---

[1] "'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के कवि ने विषय तो अपने स्वभाव से बहुत भिन्न चुना, किन्तु शृंगार के बहाने उसने कविता ऐसी रच डाली, जिसकी तुलना किसी और काव्य से नहीं की जा सकती।"—मन्मथनाथ गुप्त, नवनीत, सितम्बर, १९६१।

[2] दिनकर, युनिवर्सल प्रेस, १९, शिवचरणलाल रोड, प्रयाग।

[3] युगचारण दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६।

[4] दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि।

संक्षेप में, दिनकर-काव्य का विश्लेषण वस्तुतः बाह्य परिवेश का विश्लेषण रहा है ।

बिम्ब : कवि का व्यक्तित्व

दिनकर मूलतः कोमलता के कवि हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत,' 'नील-कुसुम,' 'उर्वशी' और 'कोयला और कवित्व' जैसी कृतियाँ पर्याप्त हैं। फिर भी उन्हें कोमलता का कवि सिद्ध करने की यह प्रणाली सतही मानी जायगी। कवि के अवचेतन मन की भावधारा के उद्घाटन का यदि कोई रास्ता हो, तो उससे कवि की मूल चेतना को परखने में प्रामाणिकता आयेगी। और ऐसा रास्ता है। वह रास्ता है बिम्बों के विश्लेषण का। बिम्ब कवि के मनोदेश का वास्तविक परिचय देते हैं। कवि की मूल चेतना बिम्बों में ही ढल कर व्यक्त होती है। बाह्य परिवेश के कारण कवि सामयिक अग्नि को अपनी कविता में पचाना चाहता है क्योंकि वह असामाजिक नहीं बन सकता। व्यक्ति होने के नाते वह समाज से समझौता कर के चलेगा ही। किन्तु, उसके बिम्ब—यानी उसकी अप्रस्तुत योजना—उसकी मूल चेतना को प्रकट कर ही देते हैं।

कवि बिम्बों के द्वारा अनजान रूप में अपने वास्तविक व्यक्तित्व को खोल कर रख देता है। बिम्ब उसकी नकाब को खोल कर उसका वास्तविक चेहरा पाठकों को दिखलाते हैं। कोई कवि, जैसे कि शेक्सपियर अपने नाटकीय पात्रों, उनके विचारों और दृष्टिकोणों में, एकदम निरपेक्ष हो सकता है, अथवा कोई कवि सामाजिक विषय को उठाकर यथार्थवादिता का दम भर सकता है। किन्तु, जिस प्रकार कोई सुसंस्कृत व्यक्ति यदि भावावेश में आता है तो अपनी आँख या चेहरे से उस आवेश को जाहिर नहीं होने देता, तथापि इस आवेश का प्रभाव स्नायविक तनाव पर पड़ता ही है, उसी प्रकार एक कवि अनजान रूप से अपनी भीतरी पसन्द-नापसन्द, अपनी दिलचस्पी और पर्यवेक्षण की बातें, मनोवृत्ति और विश्वास आदि को अपने बिम्बों के माध्यम से व्यक्त कर देता है। यह बात दूसरी है कि कविता में जो शब्द-चित्र उसने अपने पात्रों के कथन से खड़ा किया है, एकदम भिन्न-सा लगता हो। बिम्ब कवि का व्यक्तित्व ही है।

अतः बिम्ब व्यक्तित्व को अनावृत्त कर देते हैं। कवि भाव के उत्कर्ष के समय सहजात ढंग से अवचेतन को वाणी देता है। इससे उसके मन की प्रकृति, विचार की सरणि, वस्तुओं के गुण, वे घटनाएँ जिन्हें वह देखता और याद

रखता है, तथा वैसी चीजें भी जिन्हें न तो वह देखता है और न याद रख पाता है, सब पर प्रकाश पड़ता है। कलाकृति जितनी महान और समृद्ध होगी, बिम्ब भी उतने ही मूल्यवान और संप्रेषक होंगे। दूसरे शब्दों में, बिम्ब की संप्रेषकता और मूल्यवत्ता पर ही कलाकृति का महत्व निर्भर करता है। बिम्ब शब्द का प्रयोग यहाँ सादृश्य-विधान के अर्थ में किया जा रहा है। बिम्ब शब्द-चित्र हैं। वे भाषा को सवाक् बना डालते हैं।

बिम्ब का दर्शन

बिम्ब का दर्शन क्या है ? इसका दर्शन सादृश्य है—असदृश वस्तुओं का सादृश्य। यह सादृश्य, जो कि बिम्ब का आधार है, वस्तुतः सृष्टि के रहस्य में है। यह नग्न तथ्य कि, अँखुवाते बीज या झड़ते पत्ते मानव जीवन की प्रक्रिया—जन्म और मृत्यु—के प्रतीक हैं, हमें आनंदोल्लास से भर देता है और हमें यह आनंदानुभूति होती है कि हम एक महान रहस्य को भोगने वाले प्राणी हैं और इससे जीवन और मृत्यु की व्याख्या की जा सकती है। कवि की विशिष्टता इस बात में है कि अन्य प्राणियों की तुलना में सादृश्य को वह अधिक समझता है और अपने शब्दों के द्वारा, जैसा कि शेली ने कहा है, 'सत्य के जीवन में भाग लेने वाली वस्तुओं के चिरन्तन सादृश्य को बिम्बों' के द्वारा अनावृत कर देता है। यही कारण है कि महान कविता के महान बिम्बों में हमें मुग्ध और चालित करने की जो अद्‌भुत शक्ति है, उसकी कोई यौक्तिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। हमारे भीतर, कहीं कुछ जो आध्यात्मिक तत्व है, उसे यह उत्तेजित कर हमारे भीतर कुछ छू देता, कुछ जगा देता है। प्रत्येक श्रेष्ठ कवि या पैगम्बर यह जानता है कि केवल प्रच्छन्न सादृश्य को प्रस्फुटित कर के ही महानतम सत्यों को ज्योतित किया जा सकता है।

श्री मिड्‌लटन् मरे महोदय ने 'मेटॉफ़र' शीर्षक एक निबन्ध लिखा है।[१] मरे का वह निबंध काव्यालोचन के सैद्धांतिक पक्ष का एक क्लासिक है और उसमें अद्‌भुत ढंग से बिम्ब के दर्शन की मीमांसा की गयी है। उस निबंध में वे लिखते हैं : 'रूपक की खोज चेतना के किसी भी प्रारम्भिक तथ्य के अन्वेषण की तरह है : यह अन्वेषण तब तक गहराई तक नहीं जा सकता जब तक कि हम उन्माद के समीप न आ जायँ।' मरे की मान्यता है कि बिम्ब या रूपक

---

[१] Countries of the mind, Oxford University Press, 1931.

कवि की सिसृक्षा की उद्दाम पिपासा से जनमते हैं या इस भावना से कि अपने जीवन की ऊष्मा को निर्जीव पदार्थों में भी उतार सकें। मरे ने इस बात के प्रति भी ध्यान आकृष्ट किया है कि किस प्रकार ऐन्द्रिक पर्यवेक्षण और आध्यात्मिक संबुद्धि दोनों महान कवि के लिए आवश्यक हैं और उसने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि किस प्रकार कवि के मानस देश में एकत्र होने वाली ऐन्द्रिक प्रतिच्छवियाँ उसकी आध्यात्मिक संबुद्धि को जाग्रत करने की विधि हैं।

यद्यपि बिम्ब की सर्वमान्य परिभाषा देना आसान काम नहीं है, फिर भी वह क्या है, हम इसे समझते हैं। जिस प्रकार कि हम दिन-रात की सीमा-रेखा निर्धारित नहीं कर सकते हैं, फिर भी अंधकार और प्रकाश के अन्तर को समझते ही हैं, उसी प्रकार बिम्ब की परिभाषा दिये बिना भी उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। बिम्ब विचारों को स्पष्ट करने के माध्यम हैं। इसके द्वारा पाठक रचयिता के उस तत्व से परिचित होता है जो उसे समग्रता का बोध कराता है। अतः बिम्ब गुणों का निर्माण करता है, वातावरण की सृष्टि करता है और एक ऐसी प्रणाली से भावों का प्रेषण करता है जिसका और किसी भी उपाय से इतना अच्छा प्रेषण संभव ही नहीं है। अच्छे बिम्ब संप्रेषण के सबसे संक्षिप्त और प्रतिपन्न माध्यम हैं।

संक्षेप में, बिम्ब कवि के व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं।

हम इस निबंध में 'रसवन्ती' अथवा 'उर्वशी' के बिम्बों का विश्लेषण उपस्थित करने नहीं जा रहे हैं। वे तो सहज ही सुकुमार हैं। हमारी स्थापना यह है कि दिनकर पैदाइशी रोमांटिक कवि हैं। रोमांटिक कवि सुकुमार मनो-वृति का होता है। सुकुमारता के कारण उसके अधिकांश बिम्ब या तो नारी से गृहीत होते हैं या प्रकृति से। साथ ही रोमांटिक कवि वैसे बिम्बों को अधिक चुनता है जिनका सम्बन्ध तार्किकता से कम होता है, उद्वेग से अधिक। दिनकर के 'हुंकार' के सम्बन्ध में आलोचकों की यह राय है कि राष्ट्रीयता का उसमें उद्दाम विस्फोट है। 'हुंकार' को सभी आलोचकों ने क्रान्ति सम्बन्धी उनकी कविताओं का सर्वश्रेष्ठ संग्रह स्वीकार किया है। यदि 'हुंकार' के बिम्बों के विश्लेषण के द्वारा हम यह प्रमाणित कर सकें कि अपनी प्रकृति में वे क्रान्ति सम्बन्धी भावना के अनुकूल नहीं हैं, तो हमारी स्थापना की पुष्टि हो जायगी।

हुंकार की बिम्ब-योजना

'हुंकार' में यों क्रान्ति सम्बन्धी कविताएँ अनेक हैं, किन्तु उनमें तीन सर्वश्रेष्ठ हैं—दिल्ली, विपथगा और हिमालय। कहते हैं कि इन तीन कविताओं ने अपने समय में जनता के एक बड़े समुदाय को आंदोलित किया था और दिनकर इन्हीं तीन कविताओं के माध्यम से कीर्ति के ज्वार पर चढ़े थे। किन्तु, यदि हम इन तीनों कविताओं के बिम्बों का विश्लेषण करें तो परिणाम उलटा आयेगा। दिनकर दिल्ली को भारत की ऐसी कुलवधू के रूप में देखते हैं जो उजड़े हुए चमन में शृंगार रच रही है। यह कुलवधू अपने वैभव के मद में इठला रही है, विलास की दासी बन गयी है और ऐसी बेहया है कि परकीया-सी सैन चलाती है। दिनकर भारत की कुलवधू से नाराज हैं, और उसे 'कृषक-मेध की रानी' तक कह देते हैं। दिनकर दिल्ली को एक कुलटा के रूप में देखते हैं जो अपने ही पति की समाधि पर इतरा रही है और परदेशी के साथ गलबाँही डाल कर चलती है। ऐसी नारी आधुनिक फैशन के कारण बॉल डांस करेगी ही। दिनकर रसिक हैं—बड़े ही प्रबल रसिक। वे भारत की कुलवधू को घूँघट में देखना चाहते हैं। घूँघट से छन कर छिटकने वाले रूप की प्रभा कुछ और होती है। वे दिल्ली से कहते हैं कि सामने कितना ज़ईफ कुतुब मीनार खड़ा है, जरा इसका भी तो ख्याल करो। बगल ही में 'इबरत की माँ' ज़ामा खड़ी हैं, भला वह क्या कहेगी ? दिनकर यदि सुकुमार तन्तु के बने न होते तो दिल्ली की गरदन उतार लेते, पर वे उसे केवल घूंघट गिरा लेने को ही कहते हैं। सम्पूर्ण कविता में केवल नारी-सम्बन्धी बिम्बों का उपयोग किया गया है। इस कविता का आकर्षण नारी-बिम्बों का आकर्षण है।

'विपथगा' क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ कविता मानी जाती है। कम से कम इस कविता में कवि से हमें यह उम्मीद करने का अधिकार है कि वह प्रचंड बिम्ब-योजना करता। वस्तुतः इस कविता की प्रचंडता छद्म है, यथार्थ नहीं। क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ कल्पना भी दिनकर को नारी-रूप में ही साकार होती है। दिनकर चाहते तो सहज ही किसी प्रचंड दानव का चित्र खड़ा कर देते; किन्तु, उनकी रोमांटिक मुद्रा ने नारी-रूप में ही तोष पाया। क्रान्ति का ही दूसरा नाम है—विपथगा। कोई नर्तकी जिस प्रकार पायल पहन कर झन-झन करती हुई चलती है उसी प्रकार क्रान्ति भी—अन्तर यही है कि तलवारों की झनकारों में कवि को नूपुरों की झनकार सुनायी पड़ती है। इसकी अँगड़ाई

में भूचाल है और साँस में लंका के उनचास पवन। यदि यह विपथगा कोई रूपसी मात्र रहती तो यह भूचाल पुरुष के हृदय में उठता और उसकी साँस से मलय-पवन निकलता। यह विपथगा अपने मस्तक पर छत्र-मुकुट भी पहनती है, यद्यपि कि वह मुकुट काल-सर्पिणी के सैकड़ों फनों से बना है। यह चिर-कुमारिका है और अपने ललाट में 'नित्य नवीन रुधिर-चन्दन' लगाती है। दिनकर सदा से अपने मन में चिर कुमारिका की कल्पना सँजाये रहे हैं। यह कल्पना 'रसवंती' में भी है और 'उर्वशी' में तो उसका प्रकर्ष ही है : 'रूपसी अमर मैं चिरयुवती सुकुमारी हूँ।' देश बेहाल न रहता तो यह नारी मूलतः कुंकुम ही लगाती, रुधिर का चंदन तो समय की पुकार के कारण वह लगाती है। अंजन भी यह लगाती है, दरिद्र देश को चिता-धूम के सिवा और क्या मिलता; तथा संहार की लपट का चीर यह पहनती है। इस विपथगा की पायल की पहली झमक से सृष्टि में कोलाहल छा जाता है; यों भी यह कोलाहल नर्तकी की पहली झमक से पुरुष के हृदय में छाता ही है। यह जब चितवन फेरती है तब पर्वत के शृंग टूट कर गिर जाते हैं। यदि वह रूपसी होती तो पुरुष कट कर गिर जाता। यौवन इस नारी का भी कसमस करता है।

'विपथगा' का आद्यंत निर्माण रूमानी है। यह मृत्युंजय वीर कुमारों पर जनून-सी चलती है। नारी का स्वभाव ही है पुरुष को उन्मत्त बना देना। यह रानी तो है, किन्तु, विपरीत परिस्थितियों के कारण ज्वाला की। जन्म इसका हुआ, किन्तु आहों से। लालन-पालन इसका भी हुआ किन्तु कोड़े की मार खा कर। सोने-सी निखर जवान यह भी होती हैं और इसके चरणों को तीनों लोक खोज रहे हैं यद्यपि कि भय से। यह इसी प्रकार झन-झन-झन-झन करती हुई आती है। इस प्रकार 'विपथगा' मूलतः नारी-बिम्बों से भरी कविता है। इसका आक्रोश मादकता की कुक्षि से फूटा है।

'हिमालय' की कल्पना मूलतः रोमांटिक है—सुकुमार है। रोमांटिक व्यक्ति वस्तुओं को सही रूप में नहीं देखता है—या तो वह अत्यन्त उदात्त रूप में देखता है या एकदम गर्हित रूप में। संतुलन उसकी कोई विशिष्टता नहीं होती। दिनकर मूलतः रोमांटिक आवेग से ही चालित हो कर हिमालय को 'साकार दिव्य गौरव विराट !' के रूप में देखते हैं। उसे पौरुष के 'पुंजीभूत ज्वाल' कहने के पीछे भी यही प्रेरणा है। इतना विराट पुरुष 'हिमालय' और उसके पैरों पर पड़ी हुई भिखारिणी मिथिला है। मिथिला भिखारिणी है तो क्या हुआ—वह 'सुकुमारी' जो है। दिनकर का मन अब तोष पा सका।

'हुंकार' की 'आलोकधन्वा' कविता में दिनकर की एक पंक्ति है—'ज्योतिर्धनु की शिंजिनी बजा गाता हूँ।' शिंजिनी का एक अर्थ तो धनुष की डोरी होता है, किन्तु यहाँ 'बजा गाता हूँ' के कारण उसका करधनी अर्थ ही ध्वनित होता है। अतः शिंजिनी के बिम्ब को भी दिनकर ने रूमानी बना दिया। उसी प्रकार 'दिगम्बरी' शीर्षक कविता का शीर्षक ही रूमानी है। उसी कविता में दिनकर ने लिखा है : 'उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला।' मृत्यु के प्रसंग में सभी कवियों ने क्लासिकल बिम्बों का ही प्रयोग किया है। प्रसाद-जैसे छायावादी कवि ने भी 'कामायनी' में मृत्यु के लिए क्लासिकल बिम्बों का ही प्रयोग किया है अथवा रूमानी बिम्बों की रूमानियत का अपहरण कर लिया। प्रसाद ने मृत्यु को 'चिरनिद्रा' कहा है। निद्रा अपने आप में रूमानी बिम्ब है किन्तु 'चिर' विशेषण जोड़ कर प्रसाद ने उसकी रूमानियत का अपहरण कर लिया। 'अंक' रूमानी बिम्ब है किन्तु प्रसाद उसे 'हिमानी-सा शीतल' बतला कर उसकी रूमानियत का अपहरण कर लेते हैं। उसे 'काल-जलधि की हलचल' कह कर प्रसाद कितना गंभीर बना डालते हैं। पुनः वे मृत्यु को 'महानृत्य' कहते हैं, कितना भयंकर बिम्ब विधान है यह—परिस्थिति के अनुकूल। ठीक इसके विपरीत दिनकर 'मृत्यु का घूँघट' उठाने की बात करते हैं—लगता है कि उस घूँघट से कोई रूपसी झाँक उठेगी। यह रूमानी दृष्टिकोण की पराकाष्ठा है।

'भविष्य की आहट' शीर्षक कविता में 'ऐंठती वसुधा प्रसव की पीर' जैसी अभिव्यंजना भी रोमांटिक ही कही जायगी। दिनकर क्रान्ति के लिए जिस शंख को फूंकते हैं, वह चाँदी का उज्ज्वल शंख है। पुनः, क्रान्ति करने के लिए वे आदेश भी किसी 'स्वामिनी' से ही लेना चाहते हैं। छायावाद पर 'सजनीवाद' का आरोप लगाया गया था। दिनकर 'कुमारीवाद' से ग्रस्त हैं। केवल 'हाहाकार' शीर्षक कविता में ही चार बार 'कुमारी' को उन्होंने सम्बोधित किया है। कुमारी के समानार्थक शब्दों के प्रयोग तो अलग हैं जैसे—'विलासिनी !'

'हुंकार' में प्रकृति सम्बन्धी प्रसंग कम हैं, किन्तु, कहीं-कहीं सामाजिक प्रसंगों में भी प्राकृतिक बिम्ब उभर आये हैं। 'वन-फूलों की ओर' शीर्षक कविता प्रधानतया कथ्य की दृष्टि से सामाजिक है, किन्तु बिम्ब रूमानी हैं। कविता कवि से बड़ा ही रोमांटिक अनुरोध करती है कि तुम भिखारी का वेश धारण करो और मैं 'भिखारिनी' बन जाती हूँ। संध्या स्वर्ण अंचलों वाली है, खेतों में श्यामपरी उतर आयी है। चौपाल में बैठे हुए कृषक गा रहे हैं : 'कहँ अँटके बनवारी।' उसी समय पनघट से पीतवसना सुकुमार युवती

किसी भाँति गागर ढोती आ रही है, क्योंकि एक ओर यौवन के दुर्वह भार को भी उसे ढोना पड़ता है। परदेशी की प्रिया विरह गीत गाती है, कविता उसकी दूतिका बन कर जाना चाहती है। दिशा भी नारी है—शुक्र का कर्णफूल पहने है। कविता आषाढ़ की रिमझिम में धनखेतों में जाना चाहती है, कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत गाना चाहती है। इस सारी कविता में सुकुमार तत्व विकीर्ण हैं।

राष्ट्रीय चेतना : ऊपर से आरोपित

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना वस्तुतः ऊपर से आरोपित थी। वे सामाजिक परिवेश के साथ समझौता करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय क्रान्तिकारी कविताएँ लिखीं। यों मन ही मन अपने भाग्य से वे सन्तुष्ट नहीं थे। 'हाहाकार' शीर्षक कविता में वे अपनी गाँठ खोलते हैं। वे कहते हैं कि यह तो नियति का वैषम्य है कि मैं सुन्दरता की उपासना नहीं कर पाता हूँ। धन्य तो वह कवि है जिसके लिए कविता नग्न अनावृत छवि की झाँकी बनती है :

> **यह वैषम्य नियति का मुझ पर**
> **किस्मत बड़ी धन्य उन कवि की,**
> **जिनके हित कविते ! बनती तुम**
> **झाँकी नग्न अनावृत्त छवि की।**

उनकी वास्तविक कामना यह है :

> **मेरी भी यह चाह विलासिनि !**
> **सुन्दरता को शीश झुकाऊँ;**
> **जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो**
> **उधर वसन्तानिल बन धाऊँ।**

सच तो यह है कि दिनकर के भावपक्ष का भी सही-सही विश्लेषण नहीं हुआ। 'हुंकार' को राष्ट्रीय कविताओं का संकलन कह कर आलोचक छुट्टी पा लेते हैं। दिनकर के इस पक्ष पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया कि : 'सुनूँ क्या सिंधु ! मैं गर्जन तुम्हारा ? स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं।' किन्तु; इन पंक्तियों की कदाचित् जबरन उपेक्षा की गयी :

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ
किसी का हाय, खोया प्यार हूँ मैं,
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

हमारी स्थापना यह है कि दिनकर मूलतः सुकुमार कल्पना के कवि हैं। यदि यह बात सही है तो कलात्मक दृष्टि से उनकी राष्ट्रीय कविताएँ सफल नहीं कही जा सकती हैं। वे जो कहना चाहते थे उसके उपयुक्त उन्होंने बिम्बों का चुनाव उन कविताओं में नहीं किया। बिम्बों के चुनाव में यह स्खलन भी रोमांटिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है। इलियट ने शेक्सपियर के 'हैमलेट' की आलोचना के प्रसंग में यह लक्ष्य किया कि उसकी उतनी व्यथा का कोई वस्तुगत प्रतिरूप (Objective Correlative) नहीं है। कविता लिखने के लिए भाव, अनुभूति, संवेग आदि का अनुभावन तो आवश्यक ही है, किन्तु उससे कहीं अधिक आवश्यक है उस अनुभूति को दूसरों तक प्रेषित करना। सच्चा और श्रेष्ठ कवि अनुभूति का जैसा अनुभावन करता है, वैसी ही उसकी अभिव्यंजना भी। आत्मनिष्ठ अनुभूतियों को वस्तुनिष्ठ बिम्बों के द्वारा प्रेषणीय बनाया जाता है। इसे ही इलियट ने अपने स्मरणीय शब्दों में 'वस्तुगत प्रतिरूप' का नाम दिया है, क्योंकि उनका मत है कि कला के रूप में भावना को अभिव्यक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि 'किसी वस्तुगत प्रतिरूप को, दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की ऐसी एक श्रेणी, एक ऐसी परिस्थिति, घटनाओं की एक ऐसी शृंखला को, ढूँढ़ा जा सके, जो उस भावना-विशेष का इस तरह आधार हो कि जब बाह्य तथ्य, जिनका अंत ऐन्द्रिय अनुभवों में होना ही है, दे दिये जाएँ, तब तत्क्षण वह भावना उद्‌बुद्ध हो जाय।' इलियट की एक प्रसिद्ध प्रारंभिक कविता 'प्रुफ्राक का प्रेम गीत' (The love song of J. A. Prufrock) में 'वस्तुगत प्रतिरूप' की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट रूप से झलक मारती हैं। इस गीत में कवि ने रूपक को छोड़ कर प्रतीक को भाव-व्यंजना का माध्यम बनाया है। प्रुफ्राक कहता है : 'I have measured out my life with coffee-spoons.' इस पंक्ति में वह अपने सामाजिक जीवन की निस्सारता को एक अनूठे बिम्ब से प्रकट कर रहा है।

हमने 'हुंकार' की राष्ट्रीय कविताओं के विश्लेषण में देखा कि कवि का जो कथ्य था, उसने उसके अनुकूल बिम्बों का चुनाव नहीं किया। अतः राष्ट्रीय कविताएँ दिनकर का प्रकृत पथ नहीं हैं। उनका प्रकृत पथ वही है जिसकी

झाँकी 'रेणुका' की कुछ कविताओं में मिलती है, कुछ दर्शन 'रसवंती' में होता है तथा पूर्ण अभिव्यंजन 'उर्वशी' में हो पाया। 'उर्वशी' का रचयिता वस्तुतः प्रारम्भ से ही सुकुमार कल्पना का कवि रहा है। 'हुंकार' में उसकी बिम्ब-योजना कथ्य के अनुकूल नहीं है। यह तो 'रसवंती', 'द्वन्द्वगीत' या 'उर्वशी' ही है जहाँ हम यीट्स की पंक्तियों में किंचित् परिवर्तन के साथ कह सकते हैं : 'He has found, after the manner of his kind, mere images.'

कविता और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

आलोचना वस्तुतः कविता में प्रयुक्त कौशलों का विश्लेषण है। अच्छी कविताएँ लिख लेना प्रतिभा और प्रेरणा का परिणाम है किन्तु, कविता में किन कौशलों से आनंद का उच्छलन होता है, यह बतलाना अत्यन्त दुरूह कार्य है। श्रेष्ठ कविता लिखने का कोई राजमार्ग नहीं होता और न कोई ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त ही निकाले जा सके हैं जिससे श्रेष्ठ कविताओं के मूल्यांकन में सुविधा हो जाय। कवि-आलोचकों की परम्परा नयी नहीं है। पश्चिम में ड्राइडन, कॉलरीज, जॉनसन और इलियट तथा अपने देश में रवीन्द्रनाथ, अरविन्द तथा पन्त इसी कोटि के व्यक्ति हैं। कवि के पास वह भावक हृदय होता है जिससे वह कविताओं के कौशलों के विश्लेषण में अधिक विचक्षणता प्रदर्शित करता है। किन्तु, एक ओर जहाँ इसके उज्ज्वल पक्ष हैं, वहीं दूसरी ओर इसके खतरे भी अनेक हैं। कवि-आलोचक कविता-निर्माण की प्रक्रियाओं से परिचित रहता है, इसलिए उसके कौशलों के विश्लेषण में उसकी उपलब्धियाँ अन्य आलोचकों की तुलना में वरेण्य सिद्ध होती हैं। वस्तुतः कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा का होना एक दुर्लभ किन्तु सुखद संयोग है। दिनकर ने लिखा है : 'सच्चे समालोचक की आत्मा सुन्दर कवि की आत्मा होती है और वह, बहुधा, कवि ही हुआ करता है।' इलियट और रवीन्द्रनाथ को देख कर यह बात सही लगती है। किन्तु इसके खतरे को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। कवि जब आलोचना लिखता है तब जाने या अनजाने उसकी आलोचना, उसकी कविता की प्रतिरक्षा के लिए ढाल बन जाती है।

स्वच्छ गद्य के विधायक

इलियट के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि वे अत्यन्त ही श्रेष्ठ आलोचक हैं। किन्तु उनकी आलोचना के अनेक सिद्धान्त उनकी कविताओं की रक्षा के निमित्त लिखे गये हैं। दिनकर की आलोचनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। दिनकर हिन्दी के उन तीन-चार आलोचकों में से एक हैं, जिन्होंने हिन्दी काव्यालोचन के स्तर को बहुत ऊँचा उठाया है। सच तो यह है कि काल-देवता के पुस्तकालय में उनकी कम ही कविताएँ सुरक्षित रहेंगी, किन्तु आलोचना के लिए काल-देवता को अधिक स्थान देना पड़ेगा। दिनकर हिन्दी के उन कतिपय दो-चार गद्य-लेखकों में हैं जो प्रौढ़ और संतुलित गद्य लिखते हैं। हिन्दी के अधिकांश आलोचकों की निस्तेजता गद्य-लेखन के क्षेत्र में प्रकट होती है। सुमित्रानन्दन पंत के गद्य में फेन अधिक है और निराला तो कटा-छँटा गद्य लिखने के लिए कभी प्रसिद्ध ही नहीं रहे। जयशंकर 'प्रसाद' का गद्य फ़ीलपाँवी है और महादेवी के गद्य में वाक्य-विधान बड़ा ही चक्करदार होता है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आकर्षक और तेजस्वी गद्य लिखते हैं किन्तु उनमें भी उच्छ्वास अधिक है। प्रशंसा की जानी चाहिए नगेन्द्र और नलिन-विलोचन शर्मा की, जिनका गद्य अत्यन्त ही प्रौढ़ और परिमार्जित है। दिनकर का गद्य सूर्यलोक के समान स्वच्छ है और उसमें कहीं फेन नहीं है। सफाई और सन्तुलन ने दिनकर के गद्य को महिमामय और तेजस्वी बना दिया है।

दिनकर की आलोचना उनकी कविता का पूरक है। दूसरे शब्दों में, दिनकर की आलोचना उनकी कविताओं की प्रतिरक्षा में लिखी गयी है। 'मिट्टी की ओर' से ले कर 'उर्वशी' की भूमिका तक यह क्रम अनवरत और अप्रतिहत रहा है। सच तो यह है कि दिनकर की कविता का विकास बड़ा ही स्पष्ट रूप से हुआ है। भावपक्ष की दृष्टि से तो 'रेणुका' से लेकर 'कोयला और कवित्व' तक कोई बड़ा और क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया है किन्तु भाषा और शिल्प की दृष्टि से 'रेणुका' से लेकर 'कोयला और कवित्व' तक की यात्रा बहुत लम्बी है। दिनकर कवि के रूप में अब भी पूरी प्रखरता के साथ जीवित हैं और वह इसलिए कि वे हमेशा आत्मनिरीक्षण करते रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जहाँ 'बच्चन,' 'अंचल' और जानकीवल्लभ शास्त्री ऐसे कवि एक ही मनोदशा से आजीवन ग्रस्त रहे हैं और छायावादी कविता की रंगीनियों और तन्वंगिता में ही उलझ कर रह गये, वहीं दिनकर अपनी ही सीमा का बार-बार अतिक्रमण करते रहे और नयी कविता की धारा जब बही तब तट पर के ठूँठ की तरह खड़े न रह कर उस धारा से कुछ

जल अपने पादप को सींचने के लिए भी ले आये। दिनकर की कविताओं में ज्यों-ज्यों निखार आता गया त्यों-त्यों उनकी आलोचना के मूल्य भी बदलते गये।

दिनकर को प्रशंसा और ख्याति तो 'रेणुका और 'हुंकार' से मिली किन्तु, कविता के इतिहास में उनका महत्व 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत', 'उर्वशी' और 'कोयला और कवित्व' के कारण रहेगा। दिनकर की प्रारंभिक रचनाएँ कवि सम्मेलनों के प्रभाव में लिखी गयी थीं। 'हुंकार' की कविताओं की आज जितनी भी आलोचना की जाय किन्तु अपने समय में जनता के एक बड़े समुदाय को उन्होंने आन्दोलित किया था, उनका प्रेम पाया था। दिनकर समय के देवता को अपनी कविताओं में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे और समय के देवता ने बदले में उन्हें यश और कीर्ति दी। किन्तु यह बात तो स्पष्ट ही है कि उस समय की उनकी अधिकांश कविताएँ काल-देवता के पुस्तकालय में स्थान न पा सकेंगी। किन्तु यश की तरंग पर आरूढ़ दिनकर उस समय इस सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाये थे। 'मिट्टी की ओर' उनकी आलोचना की अच्छी पुस्तक है। और कुछ नहीं तो गद्य की सफाई के लिए ही उसे बहुत दिनों तक याद किया जायगा, किन्तु 'मिट्टी की ओर' के समीक्षा-सिद्धान्त 'रेणुका' और 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कविताओं को ध्यान में रख कर निःसृत हुए हैं। 'हुंकार' और 'सामवेनी' के रचयिता के पास तूलिका तो वही थी जिससे अंततः 'उर्वशी' बनी किन्तु, उसकी कटोरी में जो रंग थे, वे कच्चे थे। इसलिए उनसे जो वस्त्र रँगे गये, उनके रंग अब समय के पाट पर छूटते जा रहे हैं। दिनकर यह अब स्वयं महसूस करने लगे हैं। अमरत्व की लालसा में वेचैन दिनकर 'उर्वशी' और 'क़ोयला और कवित्व' में वैसे रंग का प्रयोग कर रहे हैं जिसे काल-देवता का जल जल्द नहीं धो सकेगा और 'चक्रवाल' की भूमिका तथा 'उर्वशी' की भूमिका में वैसे काव्यालोचन के सिद्धान्तों का संकेत कर रहे हैं जो अपेक्षया शाश्वत तथा स्थिर हैं।

राष्ट्रीयता

'हुंकार' का रचयिता जब कविताएँ लिख रहा था तब उसके कक्ष से बाहर गाँवों और नगरों में आग लगी हुई थी और आग की कुछ चिनगारियाँ उसकी चित्रशाला में भी उड़ कर आ जाती थीं। इसलिए कुछ तो उसके चित्र जल जाते थे और कुछ आग से बचने के लिए वह चिनगारियों को समेट कर एकत्र करने लग जाता था। 'मिट्टी की ओर' का आलोचक वस्तुतः अपने कृत्य के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करता है। दिनकर लिखते हैं :

'जब दुनिया में चारों ओर आग लग गयी हो, मनुष्य हिस्टीरिया में मुब्तिला हो और कौमें पगले कुत्तों की तरह आपस में लड़ रही हों, जब पराधीन जातियाँ अपनी तौकें उतार फेंकने के लिए बड़े-बड़े आन्दोलन चला रही हों और साम्राज्यवाद उन्हें कस कर बाँधने के लिए नयी-नयी कड़ियाँ गढ़ रहा हो, जब युद्ध के अन्त नये युद्ध के बीज बो रहे हों और मिनट-मिनट पर हृदय को हिला देने वाले संवाद कान में पड़ रहे हों, तब कौन ऐसा कलाकार है जो अपनी वैयक्तिक भावनाओं को उचित से अधिक महत्व देने की धृष्टता करेगा।'[1] दिनकर की राष्ट्रीय कविताएँ इसी मनोभूमि में लिखी जा रही थीं। उस समय दिनकर राष्ट्रीयता को परमधर्म समझते थे। उन्होंने लिखा : 'हम पराधीन जाति के सदस्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा। राष्ट्रीयता हमारा सबसे महान धर्म और पराधीनता हमारी सबसे बड़ी समस्या है।'[2] दिनकर यही बात तो अपनी कविताओं में भी कह रहे थे—कहीं स्पष्ट रूप से, कहीं व्यंजित करते हुए। 'रेणुका', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की अनेक कविताओं में वे इसे व्यंजित कर रहे थे तथा 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में उन्होंने स्पष्ट रूप से यही कहा भी :

> **चिल्लाते हैं 'विश्व-विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,**
> **बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।**
> **जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाये जाते,**
> **दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।**
>
> × × ×
>
> **नगपति के पद में जब तक है बँधी हुई जंजीर,**
> **तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?**[3]

उस समय यश और कीर्ति की धारासार वर्षा से भींग कर दिनकर यह महसूस कर रहे थे कि उनका वास्तविक व्यक्तित्व यही है। तालियों की गड़गड़ाहट ने दिनकर को, सत्य को निर्भ्रान्त रूप से समझने में बाधा डाली। दिनकर को इसका व्यामोह बहुत दिन तक ग्रसे रहा। राष्ट्रीय कविताओं के दिन जब लद

---

[1] **मिट्टी की ओर, १३८।**
[2] **वही, १६४।**
[3] **सामधेनी, ६१, ६३।**

गये थे और दिनकर के एक आलोचक प्रो० कामेश्वर शर्मा ने स्वयं उन्हें और हिन्दी पाठकों के एक बड़े समुदाय को जब 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि' लिख कर गुमराह बनाने का प्रयास किया था, तब तक और उसके बाद भी दिनकर के मन में तालियों की गड़गड़ाहट का मोह बना हुआ था। प्रो० कामेश्वर शर्मा का अपराध केवल यही नहीं था कि उन्होंने काव्यालोचन की सीमा का अतिक्रमण किया था, (यद्यपि यह कम बड़ा साहित्यिक अपराध नहीं है) बल्कि यह भी कि उन्होंने गलत ढंग की कविताओं को श्रेष्ठ कहा था और कुछ हद तक कवि को और बहुत हद तक पाठकों को भी भुलावे में डाल दिया। स्वयं दिनकर १९५६ तक उन दिनों की याद कर विह्वल हो उठते थे। २४ फरवरी १९५६ को बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रजत-जयन्ती समारोह के सभापति के पद से बोलते हुए उन्होंने 'नॉस्टैल्जिया' से ग्रस्त हो कर कहा : 'कैसा था वह समय जब कविता सुन कर पूज्य राजेन्द्र बाबू की आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगता था और बिहार-केसरी मसनद पर सिर धुन कर रोने लगते थे एवं श्रोताओं के बीच से अच्छे-अच्छे वयस्क लोग अपने-अपने सिर के बाल खींच कर खड़े हो जाते थे। आज वह समा कहीं भी दिखायी नहीं देता।' बात ठीक है, दिनकर का पश्चाताप गलत, बेवजह। उसी अभिभाषण में कदाचित् दिनकर इन पंक्तियों में प्रो० कामेश्वर शर्मा को ही उत्तर दे रहे थे : 'लोग कभी-कभी मुझसे पूछ बैठते हैं, तेरी आग ठंडी क्यों हो गयी ? लेकिन इसका जवाब क्या दिया जाय। देश स्वाधीन हो गया, अब तो हाकिम और महकूम, जालिम और मजलूम तथा शोषक और शोषित जो कुछ हैं, हमीं हैं। अब आग किसके खिलाफ ? क्या आग पैदा कर के अपने को जलाएँ ?' और तब दिनकर झुँझला कर पूछते हैं : 'और जवानी के गुज़र जाने के कारण यदि मेरी आग ठंडी हो गयी हो तो नौजवानों को क्या हुआ है ? उनके कंठों से ज्वाला के स्फुलिंग क्यों नहीं निकलते ?' सच तो यह है कि दिनकर की आग कभी ठंडी नहीं हुई। उनकी झुँझलाहट गलत व्यक्तियों की आलोचना सुनने से उत्पन्न हुई है। फिर कवि और कलाकार का महत्व आग के कारण नहीं होता है। उसके हृदय में करुणा और शांति की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती रहती है। दिनकर की कविताओं में चिनगारियाँ बाहर से आयी थीं। वे चिनगारियाँ भगत सिंह के बलिदान से उत्पन्न हुई थीं, चन्द्रशेखर आजाद की शहादत में पली थीं। यह अच्छा हुआ कि दिनकर-काव्य का यह सतही अध्याय बहुत जल्द समाप्त हो गया। हम समझते हैं कि यह उनका सौभाग्य है। 'रसवन्ती' का कवि स्वान्तःसुखाय

लिख रहा था, किन्तु उसे भय इस बात का था कि समाज के कटघरे में कहीं उसे सजा न दी जाय। इसलिए 'रसवन्ती' के प्रथम संस्करण की भूमिका में उसने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि वह जब कविताएँ लिख रहा था तब बाहर बम फूट रहा था। इसलिए बारूद की कुछ गंध उनकी कविता में आ गयी है।

किन्तु १९५० ई० के बाद दिनकर यह महसूस करने लग गये थे कि उनकी राष्ट्रीय कविताएँ उनके वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं और न इनके द्वारा उन्हें साहित्य के इतिहास में बहुत ऊँचा पद प्राप्त हो सकेगा। थोड़ा असम्पृक्त हो कर सोचते ही उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया कि कवि के रूप में जीने के लिए उन्हें अपनी मुद्रा बदलनी पड़ेगी। मुद्राएँ बदलीं भी। हम प्रथम परिच्छेद में दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं में आये बिम्बों के विश्लेषण के द्वारा यह प्रमाणित कर चुके हैं कि दिनकर उन कविताओं में भी शिल्प की दृष्टि से सुकुमार अदा से ग्रस्त रहे थे। इसलिए अपनी नकाब उतार कर फेंक देने में उन्हें कोई देर न लगी। राष्ट्रीयता की वकालत करने वाले दिनकर ने 'चक्रवाल' की भूमिका में लिखा : 'राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जनमी, उसने बाहर से आ कर मुझे आक्रान्त किया।' यह कितने आश्चर्य की बात है कि भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानी गांधी और जवाहर दोनों मूलतः विश्व-मनुष्य के उपासक थे। गांधी जी तो उस समय भी पेरिस और लंदन के भस्मावशेष पर भारतीय स्वातन्त्र्य का दीपक नहीं जलाना चाहते थे। वे राजनीति से अधिक मनुष्यता के नेता थे और राजनेता की अपेक्षा धर्म के नेता। श्री नेहरू ने भारत के स्वतन्त्र होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इन्हीं सिद्धान्तों का परीक्षण शुरू किया। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में इसी विश्व मानवता का रूप उभर रहा था, जिसकी उस समय हमने कटु आलोचना की थी। दिनकर वस्तुतः भारतीय चिन्ताधारा के इसी मूल स्रोत के पास 'नील कुसुम' की कविताओं में पहुँचने लग गये। राष्ट्रीयता की नकाब को ही हिन्दी के कुछ आलोचकों ने उनका वास्तविक रूप समझ लिया था। इसलिए दिनकर के वास्तविक स्वरूप को देख कर उन्हें झुँझलाहट और निराशा हुई। दिनकर यह महसूस करने लग गये कि राष्ट्रीयता कोई ऊँचा तत्व नहीं है। उन्होंने कहीं लिखा है, कदाचित् 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' में कि, जिस प्रकार एक भैंस दूसरी भैंस को अपने खूँटे पर नहीं आने देती है, राष्ट्रीयता भी कुछ वैसी चीज है। यह राष्ट्रीयता विश्व-मानव के जन्म लेने में बाधक बन रही है। 'कोयला और कवित्व' में दिनकर यही बात कहते हैं :

> टिकने देती भैंस नहीं बाहर वाली भैंसों को,
> अपने खूंटे से ढकेल कर बाहर कर देती है;
> यही भाव विकसित, प्रशस्त हो कर नर की भाषा में
> राष्ट्र, राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र का गौरव कहलाता है।[१]

पुनः वे अपनी बात को और साफ करते हुए लिखते हैं:

> और आपको विदित नहीं क्या, राष्ट्रवाद यह कैसे,
> विश्व-मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है?
> कारण? राष्ट्रवाद उपयोगी भाव, निरी पशुता है।[२]

सोद्देश्यता की समस्या

जो कवि अपनी कविताओं के माध्यम से राष्ट्र का भाग्य बदलने का प्रयास कर रहा हो, वह कुछ-कुछ नेता भी बन जाता है। ऐसा कवि यह मानता है कि कविता का उद्देश्य समाज को एक विशिष्ट दिशा में प्रेरित करना है। दिनकर अपनी राष्ट्रीय कविताओं के माध्यम से यही कार्य कर रहे थे। 'मिट्टी की ओर' में वे लिखते हैं: "उसे (कविता को) कवि के मन का सम्बन्ध समाज के जीवन के साथ स्थापित करना है तथा उस महासेतु का निर्माण करना है जो साहित्य को समाज से समन्वित रखता है।"[३] कला में सोद्देश्यता के प्रश्न को प्रमुख मानने वाला साहित्यकार अपने को शिक्षक और उपदेशक समझता है। वर्ड्स्वर्थ ने यही कामना की थी कि वे समाज के लिए महान शिक्षक बनें। दिनकर उस कविता को श्रेष्ठ मानते हैं जो संसार को कुछ और आगे ढकेल देती है। वे लिखते हैं: "कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। यह दुःख में आँसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बन कर मनुष्यों के साथ रही है। मनुष्य की चेतना को ऊर्ध्वमुखी रखने में कविता का बहुत प्रबल हाथ रहा है, स्वयं कवि ही पारिजात का वह पुष्प हैं जो स्वर्ग का संदेश ले कर पृथ्वी पर उतरा है।"[४] सोद्देश्य कला की कल्पना समाज से विच्छिन्न हो कर नहीं की जा सकती और समाज नीति और मूल्यों के बिना जी नहीं सकता। वे लिखते हैं: "कवि-कल्पना और सामाजिक जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित किये बिना साहित्य आयुष्मान नहीं हो सकता। छोटी-छोटी क्षणिक और हल्की भावनाओं

---

[१] कोयला और कवित्व, ७७।
[२] वही, ७७।
[३] मिट्टी की ओर, ५१।
[४] वही, ५४।

का गीत-प्रणयन भी आपकी जगह मूल्य रखता है, किन्तु कलाकारों में श्रेष्ठ तो वही गिना जायगा, जो जीवन के महान प्रश्न पर महान रूप से कला का रंग छिड़क सके। सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।'[1] मैथ्यु आॅर्नल्ड ने कहा था कि कविता जीवन की आलोचना है और बाद में तोल्स्तोय ने नीति के खूँटे को इतने जोर से पकड़ा कि यह सिद्धान्त कुख्याति की सीमा तक पहुँच गया। यदि कविता का लक्ष्य जीवन की आलोचना ही हो तो अन्य कई शास्त्र कविता से अधिक महत्व के अधिकारी होंगे। फूलों का मुख्य कार्य हृदय को आनन्दित करना है और उससे हृदय का परिष्कार हो जाता है तो यह गौण कार्य होगा। उसी प्रकार कविता का चरम लक्ष्म आनंददान हो सकता है। दिनकर 'मिट्टी की ओर' में आॅर्नल्ड वाले भ्रम से ग्रस्त हैं। वे लिखते हैं : 'कला की ऊँची कृतियाँ केवल जीवन की समीक्षा ही नहीं करतीं, वरन उसकी समस्याओं का निदान, उसके अर्थों की टीका और कभी-कभी उसका हल भी निकालती हैं।'[2] किन्तु दिनकर की परवर्ती कविताएँ अधिकाधिक अन्तर्मुखी होती गयीं और प्रचलित अर्थ में समाज से उनका वह प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहा जो उनकी राष्ट्रीय कविताओं का रहा था। दिनकर यह महसूस कर रहे होंगे कि उन्हीं के द्वारा निर्मित काव्यालोचन के सिद्धान्त अब उनकी कविताओं की व्याख्या ठीक-ठीक नहीं कर पाते हैं। 'उर्वशी' का रचयिता आनंदोल्लास के देश में तो विचरण करता है, किन्तु समाधान की खुली धूप में जाने से उसे हिचक है। दिनकर 'उर्वशी' की भूमिका में अपनी कविता का ही औचित्य सिद्ध करते हुए लिखते हैं : 'प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान, मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'

तालियों की गड़गड़ाहट और श्रोताओं का नीरव वैकल्य

सच तो यह है कि 'हुंकार' से ले कर 'कोयला और कवित्व' तक दिनकर के काव्यादर्श में बड़ा स्वस्थ परिवर्तन उपस्थित हुआ है। दिनकर की

[1] मिट्टी की ओर, ५९।
[2] वही, ७१।

प्रारम्भिक कविताएँ कविसम्मेलनों की छाया में लिखी गयी थीं। इसलिए उनमें गर्जन-तर्जन अधिक है। 'मिट्टी की ओर' में उसी का औचित्य सिद्ध करते हुए दिनकर लिखते हैं : 'सच्चा काव्य जाग्रत पौरुष का निनाद है।'[1] किन्तु, इस कसौटी पर तो 'उर्वशी' खरी नहीं उतरती। 'कोयला और कवित्व' की कविताएँ तब असमर्थ प्रमाणित होंगी। 'हुंकार' की कविताओं को सुन कर चाहे जितनी बार तालियाँ बजी हों, किन्तु, साहित्य का अदना-सा पाठक भी 'उर्वशी' को 'हुंकार' और 'कुरुक्षेत्र' से श्रेष्ठ रचना बतलायगा। 'हुंकार' की कविताएँ सुन कर स्नायविक तनाव होता था; किन्तु, 'उर्वशी' का पाठक तो भीतर डूबने लगता है और बाहरी दुनिया का उसे ख्याल ही नहीं रह जाता है। 'उर्वशी' का पाठक प्रकाश के जिस महासमुद्र में तैरने लगता है, उससे आत्मा के गहन-गुह्य लोकों में भी प्रकाश विकीर्ण हो जाता है। आत्मा पर जमी हुई एक-एक पपड़ी टूटने लगती है और मन कंचन के सरोवर में तैरने लगता है। बायरन और पो तथा अरविन्द और रवीन्द्रनाथ की शाश्वत चेतना की सुराही से अमरत्व की सुरा ढालते हुए दिनकर जैसे बोरिस पास्तरनाक के शब्दों में पूछते हैं : 'बच्चो! सड़कों पर कौन सदी यह गुजर रही?'[2] इसलिए अब दिनकर के काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्त भी बदल जाते हैं। अब जैसा कि वे 'नूतन काव्य-शास्त्र' में लिखते हैं : 'तू यह देखना भूल जा कि तेरी कविता को सुन कर कोई सिर हिलाता है या नहीं। तेरे देखने की बात तो यही हो सकती है कि कविता सुन कर श्रोता की आँखें बन्द होती हैं या नहीं, वह बाहर से सिमट कर भीतर की ओर डूबता है या नहीं। तेरी कसौटी तालियों की गड़गड़ाहट नहीं, श्रोताओं का नीरव वैकल्य है।'[3] जो दिनकर समस्याओं के निदान की बात कभी करते थे, वे अब लिखते हैं : 'और कवि जब, सचमुच, कवि होता है तब वह समझाने को नहीं, मात्र समझने के निमित्त रचना करता है। कविता गा कर रिझाने के लिए नहीं, समझ कर खो जाने के लिए है।'[4] दिनकर की प्रारम्भिक कविताओं में बड़ा कोलाहल है। लगता है कि कविता लिखते-लिखते कवि की नसें चढ़ जाती होंगी और आँखें लाल हो जाती होंगी। किन्तु दिनकर अब यह महसूस करने लग गये कि 'चिन्तन

---

[1] मिट्टी की ओर, ५६।

[2] कोयला और कवित्व, १७।

[3] उजली आग, ४४।

[4] वही, ४८।

करते समय न दृग को लाल करो।'[१] वस्तुतः परवर्ती कविताओं में उपलब्धि और अभिज्ञता की इस सीमा तक वे पहुँच सके हैं। आत्म-परिष्कार की उनमें अद्भुत शक्ति है। 'नूतन काव्य शास्त्र' में वे लिखते हैं : 'कविता कोलाहल नहीं, मौन है।...कविता सजावट और रंगीनी नहीं, अपने आप को चीरने का प्रयास है और जो अपने आप चीरता है, वही मनुष्य की जड़ता को चीर सकता है।'[२] 'उर्वशी' के अधिकांश स्थल और 'कोयला और कवित्व' की अनेक कविताएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। दिनकर अब निरुद्देश्य आनंद की महिमा समझने लग गये हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में यह निरुद्देश्य आनन्द 'रसवन्ती' की कुछ कविताओं में ही फूट सका था।

छायावाद : पुंसत्वहीन और प्रतापी

दिनकर छायावाद के काव्यसागर की तरंगों से फेंकी गयी एक मणि हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये छायावाद के उतार के कवि हैं। दिनकर ने जम कर लिखना तब शुरू किया जब छायावाद की बाढ़ उतर गयी थी और जल कुछ स्वच्छ होने लगा था। 'हुंकार' जब छपा, तब तक छायावाद समाप्त हो गया था। १९३६ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक-संघ का अधिवेशन हुआ था और प्रगतिवाद के माध्यम से राजनीति साहित्य के मंदिर में प्रवेश कर रही थी। उस समय छायावाद की भर्त्सना करना एक फैशन हो गया था। जिस प्रकार अंग्रेजों को गालियाँ दे कर उस समय कोई भी व्यक्ति नेता बन जाता था, उसी प्रकार छायावाद की भर्त्सना करना और प्रगतिशीलता का जामा पहन लेना साहित्य के क्षेत्र में आम बात हो गयी थी। रोमांटिक मुद्रा की एक विशेषता यह है कि उसमें आवेश अधिक होता है, चिंतन कम। दिनकर नवयुवक थे, फलतः उनमें उत्साह का आधिक्य था। बड़े आवेश में वे छायावाद की मृत्यु पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं : 'यह अच्छा ही हुआ कि पुंसत्वहीन और अभिशप्त छायावाद की मृत्यु हो गयी और आज उसका जनाजा निकाला जा रहा है।'[३]

किन्तु छायावाद की व्याप्तियाँ बहुत दूर तक गयी थीं और हमारे जीवन का वह एक अंश बन गया था। दिनकर छायावाद की भर्त्सना करते समय यह

---

[१] **नये सुभाषित**, ५२।

[२] **उजली आग**, ४३-४४।

[३] **मिट्टी की ओर**, ६५।

भूल गये थे कि उसी की कुक्षि से उनका जन्म हुआ था। बाद में जब दिनकर को प्रगतिवादियों ने आड़े हाथों लिया और अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया तब आत्मनिरीक्षण का उन्हें अवसर मिला। उन्होंने महसूस किया कि प्रगतिवाद साहित्य की अपेक्षा राजनीति का आन्दोलन था। वे तब यह मानने को बाध्य हो गये कि छायावाद का परिष्कार ही प्रगतिवाद था। दिनकर का परवर्ती काव्य वस्तुतः छायावाद की छाया में लिखा गया है। परिणामतः उनकी परवर्ती आलोचना छायावाद से उस प्रकार नहीं भड़कती है जिस प्रकार वह पहले भड़कती थी। हमारी स्थापना यह है कि 'उर्वशी' के अधिकांश रंग छायावाद की कटोरी से लिये गये हैं। 'उर्वशी' का काव्य-सौंदर्य छायावाद का काव्य-सौंदर्य है। दिनकर 'चक्रवाल' की भूमिका में ही अपना सुर बदलने लग गये थे और आलोचना के उन सिद्धान्तों का निर्माण कर रहे थे जो 'उर्वशी' और 'कोयला और कवित्व' के लिए ढाल बन सके। 'चक्रवाल' की भूमिका में छायावाद की प्रशंसा करते हुए वे थकते नहीं हैं। छायावाद बड़ा ही प्रतापी आन्दोलन था। अब वे लिखते हैं : 'यह आन्दोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था। जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया।'[१] यह वही दिनकर हैं जिन्होंने 'मिट्टी की ओर' में छायावाद को पुंसत्वहीन कहा था।

शिल्प : बदलते प्रतिमान

काव्य-शिल्प के सम्बन्ध में भी दिनकर के विचारों में आमूल परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध दिनकर के काव्य-विकास से है। दिनकर की प्रारम्भिक कविताओं में शिल्प गौण था, भाव प्रबल। उन दिनों दिनकर अपनी कविताओं में आँधी और तूफान को बाँध रहे थे। फलतः भाषा चरमरा कर टूट जाती थी। उद्वेग की वह्नि में शिल्प का ईंधन जल जाता था। दिनकर इस ओर से एकदम बेफिक्र थे। कथ्य प्रमुख था, कथन की प्रणाली गौण। 'उर्वशी' तक आते-आते दिनकर 'भाषा के सम्राट' बन जाते हैं। इसलिए काव्यालोचन सम्बन्धी उनके सिद्धान्तों में भी परिवर्तन उपस्थित होते हैं।

छन्द

पहले छन्द को लें। दिनकर मूलतः परम्पराभुक्त कवि हैं। पहले उनके लिए यह सोचना भी असम्भव था कि छन्द के बिना भी कविताएँ लिखी जा

---

[१] चक्रवाल, (भूमिका), २०।

हैं। 'मिट्टी की ओर' में उन्होंने लिखा था : 'मेरे जानते छन्द काव्य-कला का सहायक नहीं बल्कि उसका स्वाभाविक मार्ग है।'[१] सच तो यह है कि दिनकर उन दिनों इस बात में पूरा विश्वास रखते थे, किन्तु, १९५० ई० के बाद उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन उपस्थित होता है। दिनकर की कविताओं के छन्द अब गद्य के समीप आने लग गये थे। 'कोयला और कवित्व' के कितने ही छन्द मुक्त छन्द के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दिनकर ने अपने इस परिवर्तन को भाँप लिया है। उन्होंने 'नूतन काव्य शास्त्र' शीर्षक गद्य-रचना में लिखा : 'जब मैं अपने युग में खड़ा हो कर देखता हूँ, तब छन्द मुझे भी अनिवार्य-से लगते हैं। किन्तु, जब मैं तेरे पास होता हूँ तब मुझे भी यह भासित होने लगता है कि छन्द, सचमुच ही, शायद वह भूमि है, जिस पर कल्पना नृत्य का पहला पाठ सीखती है। पद्य के रचयिताओं ने गलत किस्म की कविता लिखी, यह बात सत्य नहीं है। किन्तु, यह सत्य है कि तेरे सामने भग्न मान्यताओं के जो अम्बार हैं, वे केवल पद्य में सजाये नहीं जा सकते। विषण्णता को मस्ती में समेटने का प्रयास भी कोई प्रयास है ? टूटे हुए संगीत को बाँधने के लिए टूटे हुए छन्द चाहिए।'[२] आगे वे और स्पष्टता के साथ अपने विचार को प्रकट करते हैं : 'जिस धरातल पर गीत गाये जाते हैं, सधे-सधाये छन्दों में गजल, तराने और दादरे सुनाये जाते हैं, वह धरातल आज कविता के जड़त्व का धरातल बन गया है। मनुष्य की आत्मा पर जमी हुई पपड़ियों को तोड़ना हो तो अब मनोरंजन के निमित्त विरचे जाने वाले छन्दों को तोड़ डालना ही पुण्य है।'[३] जिस दिनकर ने कभी छन्द को कविता का स्वाभाविक मार्ग कहा था, वही दिनकर अब साफ-साफ लिखते हैं : 'कविता साहित्य का निचोड़ है और छन्दों से बाहर निकल कर वह अपने इस पद को और भी ऊँचा कर सकती है।'[४] इन विचारों की पृष्ठभूमि में 'कोयला और कवित्व' की कविताओं को यदि हम देखें तो दिनकर का रूप खुल कर सामने आता है। 'उर्वशी' में जो कवित्व का प्रकर्ष दो स्थलों पर है, वह मुक्त छन्द में है। पृष्ठ ४८ पर पुरूरवा का जो लम्बा वक्तव्य शुरू होता है वह और कुछ नहीं तो मात्र छन्द की दृष्टि से भी हिन्दी कविता के इतिहास में विलक्षण है। जिस प्रकार के प्रयोग हॉपकिन्स ने किये थे, कुछ उसी प्रकार

---

[१] मिट्टी की ओर, १४६।
[२] उजली आग, ४२-४३।
[३] उजली आग, ४३।
[४] वही, ४३।
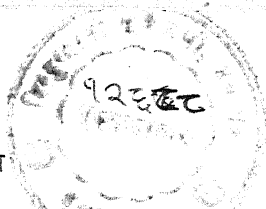
के प्रयोग का श्रेय दिनकर को दिया जाना चाहिए। दिनकर ने वस्तुतः यहाँ अनेक छन्दों को कहीं आंशिक रूप में, कहीं पूर्ण रूप में, कहीं संशोधित रूप में ग्रहण कर जो नमनीयता उत्पन्न की है वही छन्द की मुक्तता है। मेरा अनुरोध है कि हिन्दी छन्द के पंडित दिनकर के कौशल का विश्लेषण करें।

किसी आलोचक ने, कदाचित् प्रो० कामेश्वर शर्मा ने, यह कहा है कि कवित्त और सवैया के लिए दिनकर अभिनव भूषण बन कर अवतीर्ण हुए हैं। यह बात ठीक है कि आधुनिक युग में खड़ी बोली में कवित्त और सवैया का इतना सफल प्रयोग किसी और कवि ने नहीं किया। दिनकर इन छन्दों का पुरानापन बहुत कुछ चाट गये हैं। 'कुरुक्षेत्र' प्रधानतया कवित्त और सवैयों का काव्य है। दिनकर को इस बात का एहसास रहा है कि उनकी प्रतिभा इन छन्दों में खिलती है। 'मिट्टी की ओर' में संकलित 'हिन्दी कविता और छन्द' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने इन छन्दों की वकालत करते हुए लिखा है : 'कवित्त और सवैया विशेषतः आशा, उत्साह और आनन्द के छन्द हैं तथा इनमें उन भावों की पुष्ट अभिव्यक्ति होती है जो साधारणतः विषाद से सम्बन्ध नहीं रखते। इसके सिवा, इनके अन्त्यानुप्रास अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक जमते हैं तथा प्रत्येक बन्द में चमत्कारपूर्ण यति और प्रवाह के कारण इनका पाठ भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। ये छन्द किसी न किसी रूप में सभी युगों में प्रचलित रहे हैं और महाकवियों से ले कर भाटों तक ने इनका सफलतापूर्वक उपयोग किया है। सच पूछिए, तो यह छन्द हिन्दी का कल्पवृक्ष रहा है तथा इसने कभी भी किसी याचक को निराश नहीं किया। जिसने भी इस छन्द में अपनी कोई बात कही अच्छी तरह कही। कभी ऐसा न हुआ कि इस छन्द के चुनाव के कारण किसी को पश्चात्ताप करना पड़ा है।'[1] हमारी राय में ये छन्द बासी हैं और आधुनिक मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं हैं। मानना होगा कि दिनकर इन छन्दों की वकालत इसलिए करते हैं कि स्वयं उन्होंने इन छन्दों में कविताएँ लिखी हैं। यह बात दूसरी है कि इन छन्दों में इन्हें खूब सफलता मिली है।

चित्र : स्थायी प्रतिमान

दिनकर का काव्य-विकास भाव-पक्ष से कला पक्ष की ओर हुआ है। प्रारम्भ की कविताओं में वे उद्वेग में लिखते थे और कला की बारीकियों की उपेक्षा करते थे। फलतः उनकी कविताएँ विचार अधिक उठाती थीं, चित्र

---

[1] मिट्टी की ओर, १०५।

कम। कविता वस्तुतः ज्ञान की अन्य विधाओं से भिन्न इस बात में है कि उसकी भाषा चित्र-भाषा होती है। कवि शब्दों के माध्यम से वस्तुओं का चित्र खड़ा करता है। ये चित्र स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। दिनकर की प्रारम्भिक कविताओं में चित्रों का नितान्त अभाव है। उन दिनों दिनकर चित्रों की महिमा को हृदयंगम नहीं कर पाये थे। 'मिट्टी की ओर' में शायद ही कहीं चित्रों के सम्बन्ध में दिनकर ने एक भी पंक्ति लिखी हो। हमारी राय में चित्रों के अभाव के कारण 'कुरुक्षेत्र' में अभिव्यक्त भावना कविता नहीं बन पायी है। हिन्दी के आलोचकों ने युद्ध और शांति की समस्या की मीमांसा के प्रसंग में 'कुरुक्षेत्र' का मूल्यांकन किया है। 'कुरुक्षेत्र' पर लिखी गयी शताधिक आलोचनाएँ अपनी निस्तेजता का इज़हार स्वयं करती हैं। अपवाद हैं तो श्री नलिनविलोचन शर्मा, जिनका 'कुरुक्षेत्र' पर लिखा गया संक्षिप्त निबंध दिनकर-साहित्य के प्रसंग में आने वाले दशकों में बार-बार पढ़ा जायेगा।[१]

'चक्रवाल' की भूमिका श्रेष्ठ आलोचना का उदाहरण है। दिनकर यहाँ आ कर चित्रों की महत्ता समझने लगे हैं। चित्र के सार्वभौम महत्व की मीमांसा करते हुए वे लिखते हैं'—चित्र कविता का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत् कहना चाहिए कि यह कविता का एक मात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी भी नहीं टूटता। कविता और कुछ चाहे करे या न करे, किन्तु चित्रों की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र स्वच्छ या विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है।...कविताओं में क्रांतियाँ होती हैं, किन्तु प्रत्येक क्रांति अपने को अनुरूप चित्रों में व्यक्त करती है। कविताओं की प्रवृत्तियाँ बराबर बदलती रहती हैं, छन्द बदल जाते हैं और कभी-कभी छन्द टूट भी जाते हैं; किन्तु चित्र कभी भी नहीं रुकते, वे टूटे छन्दों के भीतर भी वाक्यों में मोती के समान जड़े रहते हैं। और तो और, जब कविता के भीतर का सारा द्रव्य बदल जाता है, दर्शन और दृष्टिकोण सभी कुछ परिवर्तित हो जाते हैं, तब भी चित्र कविता का साथ नहीं छोड़ते। कविता में चित्रों का आना संयोग की बात नहीं है। प्रत्येक सुन्दर कविता चित्रों का अलबम अथवा स्वयं एक पूर्ण

---

[१]प्रो० कपिल (अब प्रिंसिपल) द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दिनकर और उनकी काव्यकृतियाँ' में संगृहीत।

चित्र होती है।'[1] चित्र के सम्बन्ध में दिनकर का यह मत बाद में उनके काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्तों का अपरिहार्य अंग बन गया। उन्होंने 'रीति-काल का नया मूल्यांकन' शीर्षक आलोचनात्मक निबन्ध में रीति-काल का जो महत्व-विश्लेषण किया है, वह चित्रों को कसौटी बना कर ही। दिनकर ने रीति-कालीन कवियों के चित्रों की बड़ी तारीफ की है और उनकी यह स्थापना है कि चित्र की दृष्टि से यह हिन्दी का सबसे समृद्ध काल है। पद्माकर की प्रशंसा में वे लिखते हैं : 'पद्माकर के हाथ में जो कलम है वह विचार कम, चित्र अधिक उठाती है। दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? विचार उठाने वाला या चित्र उठाने वाला ? कहना कठिन है। किन्तु, जहाँ काव्य कला का पर्याय माना जाता है वहाँ चित्रकारी कविता का बहुत बड़ा गुण बन जाती है।'[2] इसी निबन्ध में सैद्धान्तिक धरातल पर कविता में चित्र के योगदान पर प्रकाश डालते हुए दिनकर ने लिखा है : 'कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है, कविता में वही स्थान चित्र को दिया जाता है और यह ठीक भी है, क्योंकि चित्रमयता ही कविता को विज्ञान से अलग करती है। दार्शनिक और इतिहासकार जिस ज्ञान को सूचना के भांडार में जमा करते हैं, कवि उसी ज्ञान को चित्र बना कर लोगों की आँखों के आगे तैरा देता है। जो ज्ञान चित्र में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, वह कविता के लिए बोझ बन जाता है। इसलिए जिस कविता में जितने अधिक चित्र उठते हैं उसकी सुन्दरता भी उतनी ही अधिक बढ़ जाती है।'[3] चित्रों के सम्बन्ध में दिनकर का यह मोह यों ही नहीं बढ़ा है। 'नील-कुसुम' की कविताओं में चित्रकारी अच्छी उतरी है, खासकर 'स्वप्न और सत्य' तथा 'नर्तकी' शीर्षक कविताओं में। 'उर्वशी' आद्योपान्त चित्र-व्यंजना का काव्य है। 'उर्वशी' के रचयिता के हाथ में जो कलम है वह ज्ञान को चित्र बना डालती है। 'कोयला और कवित्व' में भी चित्रात्मकता का प्राचुर्य है। काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्तों में परिवर्तन का यही रहस्य है।

भाषा : सफाई और अरूप चिन्तन की समस्या

दिनकर आधुनिक कवियों में 'भाषा के सम्राट' हैं। भाषा की सफाई दिनकर की अपनी विशेषता है। दिनकर प्रारम्भिक कविताओं में भी भाषा

[1] चक्रवाल (भूमिका), ७३।

[2] काव्य की भूमिका, १३।

[3] काव्य की भूमिका, ६।

अच्छी लिखते थे। किन्तु परवर्ती रचनाओं में वह अद्‌भुत है। अपनी प्रारम्भिक कविताओं में दिनकर भाषा के प्रति सचेष्ट नहीं थे। साफ और सुथरी भाषा वे तब भी लिखते थे, किन्तु कलात्मक उसे नहीं कहा जा सकता। भाषा की सफाई उनकी पीढ़ी की विशेषता है। छायावाद के उत्तरार्ध में बच्चन, दिनकर और नेपाली आये। किन्तु ये तीनों छायावादी भाषा की कुहेलिका से बचते रहे। छायावादी भाषा धूमायित होती रहती थी। इन तीनों कवियों की भाषा निर्धूम है। दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' में इसे लक्ष्य किया है। वे लिखते हैं : 'इस दूसरी पीढ़ी के कवियों की मनोदशाएँ परस्पर एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न थीं, परन्तु एक बात में उन सभी में आश्चर्यजनक एकता थी। यह थी सुन्दर होने के पहले सुस्पष्ट होने की प्रवृत्ति। इन कवियों में से कोई भी रूक्ष अथवा नीरस नहीं था, सौन्दर्य के प्रति भी सभी में उद्दाम आसक्ति थी, रूप-सृष्टि के लिए ये लोग भी उतने ही प्रयत्नशील थे जितने छायावादकाल के समर्थ कलाकार, किन्तु सौन्दर्य ढूँढने के प्रयास में वे कविता के प्रसाद-गुण को खोना नहीं चाहते थे। छायावाद की माया-किरण इनकी दुनिया में भी चमकती थी, किन्तु वह किरण ही थी, कुहेलिका नहीं। इनकी एक विशेषता यह भी थी कि ये कभी भी ऐसी चीज को नहीं उठाते थे जो इनकी समझ में अच्छी तरह से नहीं आती हो।'[१] भाषा की यह सफाई रहते हुए भी दिनकर भाषा के कौशल को कविता का चरम लक्ष्य नहीं समझते थे। कविता में वे कारीगरी की अपेक्षा भाव पक्ष को अधिक महत्व देते थे। उस समय की उनकी कविताएँ इसी बात का प्रमाण हैं और अपनी आलोचनाओं में वे इसी तथ्य को निर्भ्रान्त रूप से उपस्थित कर रहे थे। 'मिट्टी की ओर' में वे लिखते हैं : 'जाग्रत युग के स्वप्न फूलों से नहीं, चिनगारियों से सजे जाते हैं। केवल कारीगरी इस युग के तूफान को बाँधने में असमर्थ है। अभिनव सरस्वती अपने को धूल और धुएँ की रूक्षता से बचा नहीं सकती। वर्तमान युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के लिए हमें इसकी अधिक से अधिक गर्मी को आत्मसात करना होगा और इसे इतने निकट से जानना होगा कि हम इसकी अनुभूतियों के शिखर-प्रदेश पर खड़े हो सकें। कारीगर के लिए यह शायद आवश्यक न भी हो, लेकिन जिसने अपने समय के प्रतिनिधित्व करने के मनसूबे बाँधे हैं, उसे तो इसके प्रदाहों का निर्भीक हो कर आलिंगन करना ही पड़ेगा।'[२] 'रश्मि-

---

[१] मिट्टी की ओर, ३५-३६।

[२] मिट्टी की ओर, ६५।

रथी' तक दिनकर का काव्य इसी मनोवृत्ति का काव्य है। 'रश्मिरथी' के बाद दिनकर की कविता को अन्तरंग और बहिरंग दोनों बदलने लगते हैं और उनके काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्तों में भी परिवर्तन आते हैं। दिनकर ने 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' पुस्तक में 'कामायनी' की भाषा की कटु आलोचना की है और उसे आदर्श भाषा मानने से इनकार कर दिया है। कई लोगों को यह बात समझ में नहीं आयी थी और बहुतों ने इसे प्रसाद के प्रति ईर्ष्या कहा था। सच तो यह है कि यह ईर्ष्या का परिणाम नहीं था बल्कि काव्यालोचन सम्बन्धी नये सिद्धान्तों के मध्याह्न सूर्य की यह प्रखरता थी। 'कामायनी' की भाषा को आदर्श और अनुकरणीय नहीं माना जा सकता, किन्तु यहाँ दिनकर ने संतुलन खो दिया है। इसका मनोविज्ञान यह है कि कवि 'उर्वशी' लिखने लग गया था और व्याजान्तर से उसकी भाषा की ओर वह संकेत कर रहा था। हमारा ख्याल है कि यदि 'उर्वशी' न लिखी गयी होती तो 'कामायनी' की इतनी कटु भर्त्सना दिनकर न करते। हम यहाँ दिनकर की स्थापनाओं का खंडन नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत् हमारे कहने का लक्ष्य इतना ही है कि कवि जब आलोचक बन बैठता है तब उसके खतरे अनेक होते हैं।

'कामायनी, दोषरहित दूषण सहित' शीर्षक निबन्ध में दिनकर लिखते हैं : 'कविता का अंतिम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण है; कविता का चरम सौन्दर्य उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौंदर्य होता है।'[1] ध्यान देने की बात है कि भाषा की सफाई की बात दिनकर यहाँ भी कहते हैं। इस सफाई से उन्हें बड़ा मोह रहा है। भाषा की सफाई बड़ी चीज है अवश्य, किन्तु उसके नाम पर कवित्व की हत्या नहीं की जानी चाहिए। हम इस बात को भुला नहीं सकते कि कवि मोटी अक्ल के पाठकों के लिए नहीं लिखता है। दिनकर कहीं-कहीं भाषा की सफाई के नाम पर व्याख्या करने लग जाते हैं। हमें भाषा की सफाई और व्याख्या को एक चीज नहीं समझना है। 'कलिंग-विजय' शीर्षक कविता में दिनकर ने एक जगह इसी तरह कवित्व की हत्या की है। पहले वे लिखते है :

श्रव्य जो भी शब्द वे उठते मरण के पास[2]

यह पंक्ति बड़ी कलात्मक है, अथच सांकेतिक। किन्तु दिनकर को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। वे आगे लिखते हैं :

---

[1]पंत, प्रसाद और मैथलीशरण, ७१।

[2]सामधेनी, ४२।

शब्द ? यानी घायलों की आह,
घाव के मारे हुओं की क्षीण, करुण कराह,
बह रहा जिसका लहू, उसकी करुण चीत्कार,
श्वान जिसको नोचते उसकी अधीर पुकार ।

यह व्याख्या निष्प्रयोजन और अकलात्मक है । ये चार पंक्तियाँ ऊपर वाली एक पंक्ति की तुलना में जम नहीं पाती हैं । ऐसे स्थलों पर ऐसा लगता है कि दिनकर मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहे हैं । कदाचित् यह द्विवेदी-युग का ध्वंशावशेष है ।

'कोयला और कवित्व' में एक जगह इसी तरह कुकवित्व का परिचय मिलता है । 'नदी और पीपल' इस संग्रह की एक श्रेष्ठ कविता है । उसमें वे लिखते हैं :

पक्षियों का ग्राम केशों में बसाये
यह तपस्वी वृक्ष सबको छाँह का सुख बाँटता है ।[1]

ये पंक्तियाँ बहुत मनोरम हैं । 'पक्षियों का ग्राम' तो अभिव्यंजना का चमत्कार है । 'तपस्वी वृक्ष' का 'सबको छाँह का सुख' बाँटना तो मन प्रसन्न कर देता है । दिनकर की परवर्ती कविताओं में उनका सामाजिक पक्ष इतनी ही कलात्मक उपलब्धि के धरातल पर पहुँच सका है । वे कहते कुछ नहीं हैं, केवल व्यंजित करते हैं । किन्तु इसके आगे वे इस 'छाँह' की यों व्याख्या करते है :

छाँह यानी पेड़ की करुणा,
सहेली स्निग्ध, शीतल वारि की, कर्पूर, चन्दन की ।[2]

यह व्याख्या निष्प्रयोजन है। यों ये पंक्तियाँ अपने आप में बहुत कवित्वपूर्ण हैं, पर समग्र कविता में इनका शायद ही स्थान हो सकता है । हम नहीं मानते कि कविताओं में शब्दों या वाक्यांशों का मूल्यांकन समग्र इकाई से अलग किया जाना चाहिए ।[3] यह भाषा की सफाई नहीं, कवित्व का स्खलन

---

[१] **कोयला और कवित्व, ७ ।**

[२] **वही, ७ ।**

[३] **बातचीत के क्रम में मैंने दिनकर जी से इसका उल्लेख किया था। उन्होंने इन पंक्तियों के औचित्य के पक्ष में कुछ तर्क दिये । इसके बावजूद मैं अपने विचारों में परिवर्तन का कोई युक्तियुक्त कारण नहीं पाता ।**

है। लगता है कि दिनकर ने स्वयं अपने विचारों में ही बाद में संशोधन किया है। 'विचारक कवि पन्त' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं: 'भाषा की शक्ति वहीं प्रशंसनीय नहीं होती जहाँ सब कुछ सुस्पष्टता के साथ वर्णित हो जाता है। भाषा जब अरूप चिन्तन को लिबास पहनाने में पसीने-पसीने होने लगती है, उसका सौन्दर्य वास्तव में वहीं देखते बनता है।'[1] विचारणीय यह है कि यह बात दिनकर को पंत की आलोचना के प्रसंग में ही क्यों सूझी? 'कामायनी' की आलोचना लिखते समय उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों नहीं किया? हमारा ख्याल है कि इसका कारण वैयक्तिक है। वैयक्तिक इस अर्थ में नहीं कि प्रसाद से दिनकर को कोई द्वेष है। हमारा अनुमान है कि 'कामायनी' की आलोचना लिखते समय 'उर्वशी' के सर्वश्रेष्ठ स्थल नहीं लिखे गये थे। किन्तु, पन्त की आलोचना लिखते समय तक दिनकर को यह महसूस हो गया होगा कि अरूप को रूप देते समय भाषा को कितनी परेशानी होती है। प्रसूति की पीड़ा को दिनकर ने अब समझा है।

रश्मिरथी : कवि आलोचक की भ्रांति

हमने इस निबन्ध में यह कई जगह उल्लेख किया है कि कवि जब आलोचक बनता है तब खतरा यह रहता है कि उसकी आलोचना उसकी कविता के लिए ढाल बन जाती है। हमारा यह मत दिनकर के सम्बन्ध में एक और बात को देख कर पुष्ट होता है। 'काव्य की भूमिका' में वे एक जगह लिखते हैं: 'जो कम लिख कर अच्छा लिख गया, वह श्रेष्ठ है। किन्तु यह नियम न माना जाये तभी ठीक होगा। साधारण नियम यही है कि अधिक लिखने वालों के साहित्य में से ही अधिक मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य छाँटा जा सकता है। इसलिए प्रेरणा की अचल प्रतीक्षा ठीक नहीं है। कवि को जबरदस्ती भी लेखनी उठा लेनी चाहिए। कुछ देर तो वह भटकी हुई लंग मारने वाली पंक्तियाँ लिखेगा, किन्तु आगे चल कर मन्दोन्माद की स्थिति आ सकती है और सम्भावना है कि सूई ध्रुव के आमने-सामने आ जाये। 'रश्मिरथी' काव्य मैंने जबरदस्ती आरम्भ किया था और उसके आरम्भ के दो सर्ग जबरदस्ती ही लिख गया था। किन्तु, तीसरे सर्ग में पहुँचते-पहुँचते सूई ध्रुव के सामने आ गयी। यही बात मेरी कितनी ही छोटी-छोटी रचनाओं पर भी लागू है।'[2]

---

[1] पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण १३४।

[2] काव्य की भूमिका, १३१।

दिनकर ने यहाँ अनजान से ही सही, किन्तु अपनी कविता की वकालत की है। ऊपर का कथन इस बात का भी प्रमाण है कि कवि तटस्थ हो कर अपनी कृतियों की उपलब्धियों और सीमाओं को ठीक-ठीक समझने में समर्थ नहीं होता है। यदि दिनकर की बात हम मान लें तब यह भी मानना पड़ेगा कि 'रश्मिरथी' के पहले दो सर्गों को छोड़ कर बाद वाले सभी सर्ग श्रेष्ठ हैं। हम नहीं मानते कि 'रश्मिरथी' का कोई भी सर्ग श्रेष्ठ कविता का उदाहरण है। दिनकर के प्रशंसक आलोचक प्रो० शिवबालक राय ने भी झुँझला कर लिखा है कि 'रश्मिरथी कुकवित्व का गढ़ है।'[1] कवि जब आलोचक बन जाता है तो कभी-कभी भ्रामक बात भी कह जाता है।

हमारी 'थीसिस' यह है कि दिनकर के आलोचनात्मक सिद्धान्त उनकी कविताओं से निःसृत हुए हैं। दूसरे शब्दों में, उनकी आलोचनाएँ उन्हीं की कविताओं के समर्थन के लिए लिखी गयी हैं। यों दिनकर को हिन्दी के आधे दर्जन श्रेष्ठ आलोचकों में परिगणित किया जा सकता है। उनकी आलोचनाएँ बड़ी स्पष्ट हैं, उनका गद्य बड़ा मँजा हुआ है, उनके विचार बड़े साफ हैं। हिन्दी आलोचना के इतिहास में उनका स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

---

[1] साहित्य के सिद्धान्त और कुरुक्षेत्र, शिवबालक राय।

काव्य-भाषा के सम्बन्ध में दिनकर की मान्यताएँ

किसी भी काव्य या साहित्य का चरम अवयव चूँकि भाषा है इसलिए काव्य में भाषा के प्रयोग की समस्या सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। भाषा का अध्ययन प्रधानतया भाषाविज्ञान का क्षेत्र रहा है, किन्तु भाषाविज्ञान ने भाषा के क्रिया-कलाप के सौंदर्यवादी पक्ष की पूरी उपेक्षा की है। काव्य-भाषा के अध्येताओं को इसी सौंदर्यवादी पक्ष को उभारना है। उन्हें भाषा के आभ्यंतर स्वरूप की मीमांसा करनी है, भाषा-संस्कार के स्तरों और विभिन्न वर्गों को पहचानना है, शैली की विशिष्टताओं का उद्घाटन करना है। वर्ड्स्वर्थ ने कविता की भाषा की विशिष्ट शैली के सम्बन्ध में यह कहा था कि उनकी ठीक-ठीक व्याख्या तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि हम इस प्रणाली की मीमांसा न कर लें कि किस प्रकार भाषा और मनुष्य के मन का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। कहना न होगा कि ऐसी स्थिति में न केवल साहित्यिक क्रान्तियों बल्कि सामाजिक क्रान्तियों को भी हम नजरअन्दाज नहीं कर सकते क्योंकि वे भाषा को प्रभावित करती हैं।

कॉलरिज ने कविता की परिभाषा देते हुए बतलाया था कि यह सबसे अच्छे शब्दों का सर्वश्रेष्ठ क्रम है। दूसरे शब्दों में, कॉलरिज कविता को सबसे अच्छी भाषा ही मान लेते हैं। कविता की भाषा शास्त्र की भाषा से भिन्न होती है। शास्त्र की भाषा तार्किक मन की उपज है, कविता की भाषा काव्यमय मन की। हो सकता है कि भाषा के उद्भव और प्रकृति के सम्बन्ध में कवि की जो विभावना है, वह सब की सब एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण में पूरी की पूरी फिट न की जा सके। किन्तु जब हम भाषा के समीप कवित्वपूर्ण ढंग से पहुँचते हैं, तो भाषा ही कविता बन जाती है। इसलिए किसी भी विद्वान के लिए कविता का अन्तिम

विश्लेषण भाषा का ही विश्लेषण बन जाता है। काव्यालोचन का पंडित काव्यानंद को अनुभूति की लय के भीतर की लय, बिम्ब के भीतर के बिम्ब तथा शब्दों के अर्थों में छिपे हुए अर्थों का उद्‌घाटन कर बढ़ा देता है। महान भाषाविद् वॉसलर ने कहीं लिखा है : 'भाषा ही आत्मा की अभिनेत्री है, जिसकी आवाज के बिना कविता और इसके साथ ही चिंतन, इच्छा और ज्ञान, ये सब जो अभिव्यंजना चाहते हैं, मूक रह जायेंगे।' अतः कविता भाषा में उसी प्रकार सन्निहित है जिस प्रकार कि फूल में फल सन्निहित रहते हैं।

किसी विद्वान ने भाषा को मुरझाये हुए रूपकों का कोश कहा है। जब हम भाषा की अपरिसीम समृद्धि और प्रकाश को देखते हैं, तो ब्लूमफील्ड के शब्दों में कविता को 'भाषा का अलंकृत ग्रन्थ' कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाते हैं। कवित्व की भाषा की बात छोड़िए, स्वयं भाषा कवित्व है। भाषा सभी प्रकार के ज्ञानों तक प्रसारित है और जीवन के क्षेत्र से कुछ ग्रहण करती है। भाषा का कवित्व, निश्चय ही, अपने प्रकर्ष पर कविता में रहता है। भाषा के किसी और प्रकार और प्रयोग में, ध्वनि और भाव का वैसा विचक्षण पाणि-ग्रहण संपन्न नहीं होता, जैसा कि कविता में हो पाता है। शब्दों को अधिक कवित्वमय और तीव्र व्यंजक बनाने में कविता भाषा की सुप्त शक्तियों को जाग्रत करती है और परिणामस्वरूप उसके अपूर्ण लक्ष्यों को पूर्णता प्रदान करती है। कविता, जैसा कि वॉसलर ने कहा है, भाषा का सच्चा तत्व है। यहीं आ कर भाषा अन्तिम परिणति पर पहुँचती है; यहाँ यह प्रतीक और माध्यम बन सकती है, बाह्य और आभ्यंतर रूप का समीकरण हो सकता है। वॉसलर ने कविता की तरह दीखने वाली भाषा का यों वर्णन किया है : 'यहाँ यह किसी प्रवृत्ति-गत सम्मान से मुक्त रह कर अपने आप में चिंतन की समाहिति में रहती है और एक सूर्य की तरह सभी दिशाओं में प्रकाश विकीर्ण करती है।' संक्षेप में, कविता में भाषा की महिमा अपने प्रकर्ष पर रहती है और जिस कवि को भाषा की जितनी बारीक पहचान होगी वह उतना महान कवि होगा।

दिनकर प्रधानतया कविता के आलोचक हैं। कविता में भाषा की शक्ति पर उन्होंने अपने निबंधों में यत्र-तत्र विचार किया है। दिनकर की काव्यभाषा की आलोचकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। कदाचित् इसका कारण यह है कि कविता की भाषा के महत्व को उन्होंने हृदयंगम किया है जिसके प्रमाण उनके निबंधों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि दिनकर ने 'कामायनी' की आलोचना करते हुए उसकी भाषा की कटु

आलोचना की है।[१] भाषा के निकष पर 'कामायनी' निर्दोष सिद्ध नहीं होती है। दिनकर ने उसी निबन्ध में कविता की भाषा के सम्बन्ध में अपनी यह स्थापना दी है : 'कविता का अन्तिम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण है; कविता का चरम सौंदर्य उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौंदर्य होता है।'[२] दिनकर ने काव्य-भाषा के विविध पक्षों पर विचार किया है और उन तत्वों को ढूँढने का प्रयास किया है जिनके कारण कविता की भाषा का स्वतंत्र महत्व स्थापित हो पाता है।

कविता और शास्त्र की भाषा

कविता और शास्त्र की भाषा में एक तात्विक अन्तर होता है। शास्त्र की भाषा का कोई आवेगात्मक प्रभाव नहीं होता है। दैनंदिन जीवन की भाषा प्रचंड आवेश को व्यक्त नहीं कर सकती है। रोमांटिक चिंतकों में वर्ड्स्वर्थ ने इस भ्रांति का प्रचार किया था कि गद्य और कविता की भाषा में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता है। किन्तु बाद में कॉलरिज ने वर्ड्स्वर्थ की इस भ्रांत व्याख्या का पुरजोर खंडन किया। वर्ड्स्वर्थ, जैसा कि कॉलरिज ने कहा, केवल एक ऐसे सत्य पर अतिरिक्त प्रकाश डाल रहा था जिसमें शक किसी को नहीं हो सकता है। कॉलरिज का कहना है कि वर्ड्स्वर्थ के कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कुछ ऐसे भी वाक्य हैं जो एक साथ ही गद्य अथवा काव्य में प्रयुक्त हो सकते हैं। परन्तु वर्ड्स्वर्थ ने इस तथ्य की उपेक्षा की कि चूँकि गद्य सीधे बोलचाल की भाषा से रूप ग्रहण करता है, इसलिए उसमें कुछ 'लापरवाही' (Casualness) रहती है। साथ ही, गद्य में लयात्मकता का अभाव रहता हैं। कविता और गद्य और इसलिए शास्त्र में भी शब्द वे ही रह सकते हैं, वे किसी भी तरह विलक्षण न होंगे, गठन भी वाक्य का एक ही सा हो सकता है; किन्तु ज्यों ही इसमें लय आती है, कुछ ऐसा तत्व आ जाता है जो संगीत तो नहीं है किन्तु संगीत से ही जिसका जन्म हुआ है। इसे वातावरण कह लीजिए, या जादू, अथवा जॉवर्ट के शब्दों में, 'उत्तम काव्य वह है जो सुगंधि अथवा ध्वनि की तरह साँस फेंकता है।' हम इस अन्तर की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते हैं कि किस कारण गद्य कविता में बदल गया। स्पष्ट ही कविता और शास्त्रों की भाषा में एक अन्तर होता है और दिनकर ने इसे लक्ष्य किया है।

[१] देखिए 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण'।

[२] वही, ७१।

विज्ञान और कविता की भाषा के अन्तर पर वे प्रकाश डालते हुए लिखते हैं : 'जब हम काव्यभाषा जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा अभिप्राय उस भाषा से भिन्न होता है, जो विज्ञान की भाषा है जो वारदातों का ठीक-ठीक ब्योरा देती है, जिसका प्रयोग उन चीजों के लिखने के लिए होता है जिनका चिन्तन, विकास और लेखन, सभी कुछ गद्य में ही होता है और जो स्पष्टता की हत्या किये बिना पद्य में लिखी ही नहीं जा सकती।'[१] दिनकर एक अन्तर तो स्पष्ट ही संकेतित कर देते हैं कि गद्य की भाषा कविता की भाषा की तुलना में अधिक स्पष्ट होती है। ध्वनित यह भी होता है कि कविता की भाषा गद्य की भाषा की तुलना में साफ कम, व्यंजक अधिक होती है। वे उसी जगह आगे लिखते हैं : 'इसके विपरीत कविता या कवि की भाषा कल्पना, भावोद्रेक, चित्र और काव्यात्मक अनुभूति की भाषा होती है।'[२] दिनकर ने उपरिलिखित मंतव्य 'मिट्टी की ओर' में प्रतिपादित किया था। पर 'चक्रवाल' की भूमिका में भी पुनः इस तथ्य की आवृत्ति करते हैं : 'विज्ञान और कविता में जो भेद है, वह दोनों के भाषा-प्रयोगों में स्पष्ट हो जाता है। वैज्ञानिक और कवि शब्द तो, प्रायः, एक ही कोष से लेते हैं, किन्तु शब्दों को वाक्यों के भीतर बिठाने में दोनों के तरीकों में भेद पड़ जाता है। कवि शब्दों को इस उद्देश्य से बिठाता है कि वे अपनी ध्वनि को झंकृत कर सकें, एक नहीं अनेक अर्थों का संकेत दे सकें, उनसे प्रभावोत्पादकता टपके और वे पाठकों के भीतर किंचित् आवेश भी उत्पन्न कर सकें। किन्तु वैज्ञानिक का उद्देश्य इसके सर्वथा विपरीत होता है। किसी भी वैज्ञानिक का विश्वास हम इसलिए नहीं करते कि वह प्रभावोत्पादक ढंग से बोलता है, बल्कि वह यदि प्रभाव जमाने को बोलने लगे तो हमें उस पर संदेह होने लगेगा। वैज्ञानिक एक शब्द से एक ही अर्थ लेना चाहता है और न तो वह स्वयं आवेश में आता है, न अपने शब्दों के द्वारा दूसरों को आविष्ट बनाना चाहता है।'[३] दिनकर के विश्लेषण से कविता और शास्त्र की भाषा के ये प्रमुख अन्तर सामने आते हैं :

(१) शब्दों को वाक्य में बैठाने की अदा एक नहीं होती।
(२) कवि अनेक अर्थ झंकृत करना चाहता है, वैज्ञानिक केवल एक अर्थ।

---

[१] मिट्टी की ओर, ७५।
[२] वही, ७५।
[३] चक्रवाल की भूमिका, ६६।

(३) कवि शब्द-प्रयोग से आवेश उत्पन्न कर प्रभावोत्पादकता बढ़ाना चाहता है, वैज्ञानिक का ऐसा उद्देश्य नहीं होता।

स्पष्ट है कि काव्य और शास्त्र की भाषा के पृथक्करण को दिनकर ने ठीक-ठीक समझा है। वे भाषा के अन्तर के कारण काव्य और शास्त्र में वर्णन की प्रकृति का जो अन्तराल उपस्थित होता है, उसकी भी मीमांसा करते हैं: 'प्रकृति अथवा सुन्दरता का वर्णन यदि कविता में किया जाय और फिर वैज्ञानिक ढंग से गद्य में तो, प्रायः काव्यगत वर्णन अधिक सत्य और सुनिश्चित वर्णन प्रतीत होगा। कारण यह है कि अर्थों के जितने बिम्ब (शेड्स या न्वांसेज) हैं, किसी भी भाषा में उन सब के लिए अलग-अलग शब्द नहीं है। किन्तु, शब्दाभाव की कठिनाई को कवि अपने शब्दों की कलापूर्ण योजना से दूर कर देता है। कविता का अर्थ समझने के पहले ही हम पर छन्द, वाक्य-विन्यास और शब्दों के बैठने की अदा का असर होने लगता है। परिणाम यह होता है कि कविता पढ़ते-पढ़ते हमारे भाव जग पड़ते हैं, हममें एक विशेष प्रकार की भावदशा उत्पन्न हो जाती है और भावों की जागृति की अवस्था में हम शब्दों से वह अर्थ ले लेते हैं जो कवि हमें बतलाना चाहता है। किन्तु वैज्ञानिक पद्धति से प्रयुक्त शब्द ऐसे अर्थ देने में असमर्थ होते हैं क्योंकि शब्दों के भीतर वे अर्थ होते ही नहीं। यह तो कवि-कौशल का चमत्कार है कि वह कई शब्दों को कलापूर्वक आस-पास बिठाकर कोई ऐसा अर्थ उत्पन्न कर दे जो अलग-अलग खोजने पर किसी भी एक शब्द में नहीं मिल सकता।'[१] दिनकर के कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान की भाषा में शब्दों में बैठने की अदा साधारण रहती है, जब कि कविता में अनन्य साधारण। इसलिए भी—यानी शब्दों के बैठने की विचक्षण अदा के कारण—काव्यभाषा में अर्थ के अनेक क्षितिज हो सकते हैं, होते हैं तथा ऐसे भी अर्थ शब्द में चमकने लगते हैं जो शब्दों में सन्निहित नहीं हैं।

इससे भी पूर्व दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' में इस समस्या पर विचार किया है कि जो बातें हम कविता में कहते हैं, क्या उन्हें उसी तरह गद्य में भी कह सकते हैं या नहीं? दिनकर वस्तुतः काव्य और गद्य की सीमारेखा को साफ़ कर देना चाहते हैं। वे लिखते हैं: 'कवि-कला के रहस्योद्गम को अधिक समीप से देखने के लिए इस प्रश्न पर सोचने की आवश्यकता है कि तर्क को अन्धा बना देने वाले काव्य के इस चमत्कार का कारण क्या है? जो बातें हम

---

[१] चक्रवाल की भूमिका, ६७।

कविता में कहते हैं, उन्हें हम गद्य में कह सकते हैं या नहीं ? वस्तुतः कल्पना, कोमल चिन्तन, रागपूर्ण और ओजस्विनी अभिव्यंजना, जो काव्य के तत्व हैं, गद्य में भी हो सकते हैं, और होते भी हैं। किन्तु, उन्हें हम कविता नहीं कहते, बल्कि, एक उपसर्ग जोड़ कर, गद्य-काव्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यात्मक अभिव्यंजना से जिस गद्य की शक्ति और सुन्दरता बढ़ जाती है, वह औसत गद्य से ऊपर उठ जाता है, पर वह काव्य का पद नहीं पाता। रवि बाबू की बँगला गीतांजलि और अंगरेजी अनुवाद में भाव, कथानक, अलंकार और शैली में तनिक भी भेद नहीं है। फिर क्या कारण है कि अनुवाद में हम वह आनंद नहीं पाते जो मौलिक गीतों में मिलता है ? क्या कारण है कि कविता का अन्वय करने पर उसका सौन्दर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, मानों पंक्तियों पर के ओसकण हथेली पर आ कर टूट-फूट कर पानी बन गये हों और उनकी पहली चमक, ताजगी और आकर्षण-शक्ति नष्ट हो गयी हो ?'[१] दिनकर अपने अंतिम विश्लेषण में वस्तुतः कॉलरिज के इस कथन की ही पुष्टि करते हैं कि : 'Poetry is best words in best order.' यह सच है कि एक ही प्रकार के शब्दों में एक बात कह कर गद्य और फिर उन्हीं शब्दों में वही बात कह कर काव्य लिखा जा सकता है। इसके बावजूद जो चमत्कार उस काव्य में उत्पन्न होगा, वही कविता की अपनी अदा है। इसका उदाहरण दिनकर से ही दिया जा सकता है। 'उजली आग' में वे एक जगह लिखते हैं : 'विस्मृति के जिस सुधा-सिन्धु में तुम्हें कविता और दर्शन पहुँचाते हैं, वहाँ मैं नारी-प्रेम की नाव पर चढ़ कर गया हुआ हूँ। रूप साकार कवित्व है और सौन्दर्य की लहर दर्शन की लहर से मिलती-जुलती है।" (—नर-नारी) ठीक यही बात लगभग इन्हीं शब्दों में दिनकर ने 'उर्वशी' के तृतीय अंक में कही है, लेकिन शब्दों के बैठने की अदा या लय के कारण 'उर्वशी' की पंक्तियों का प्रभाव अधिक मोहक और चमत्कारी है :

> **चिंतन की लहरों के समान सौंदर्य-लहर में भी है बल,**
> **सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसि नारी का स्वर्णांचल।**
> **जिस मधुर भूमिका में जन को दर्शन तरंग पहुँचाती है,**
> **उस दिव्य लोक में हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।**[२]

---

[१]**काव्य-समीक्षा का दिशा-निर्देश, मिट्टी की ओर; १६५।**
[२]**उर्वशी, ९९।**

यही अन्तर कविता और गद्य का अन्तर है जो भाषा में विलक्षणता उत्पन्न होने के कारण आता है।

दिनकर ने स्वयं काव्य-भाषा की दृष्टि से खड़ी बोली की कविता पर विचार किया और द्विवेदी-युग तथा छायावाद-युग को आमने-सामने रख कर अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः हिन्दी कविता में एक ही प्रकार की भाषा में लिखित साहित्य का कोई दूसरा युग ऐसा नहीं है जो इतना बड़ा अन्तर रखता हो। सच तो यह है कि द्विवेदी-युग की अधिकांश कविताएँ पद्य में लिखी जा कर भी गद्य ही बन कर रह गयीं। दिनकर लिखते हैं : '...खड़ी बोली का कवि अगर कवि की तरह प्रसिद्ध होना चाहता था, तो उसके सामने केवल यही उपाय था कि वह विरोधी जनमत के सामने अपनी रचनाओं के द्वारा यह सिद्ध कर दे कि उसकी भाषा सच्चे अर्थों में कल्पना, अनुभूति और चित्र की भाषा है। लेकिन तब तक खड़ी बोली की काव्यगत क्षमताओं और उसकी प्रच्छन्न संभावनाओं का अनुसंधान नहीं हो पाया था। अतएव, खड़ी बोली के आरम्भिक कवियों की रचनाएँ, प्रायः गद्य और कविता के बीच की चीज रहीं।'[१] दिनकर ने बात कदाचित् संयमित ढंग से कही है। सच तो यह है कि द्विवेदी-युग की प्रतिनिधि कविताएँ कवित्व में छायावाद-युग के गद्य से हीनतर हैं। और छायावादी काव्य ने तो यह प्रमाणित कर ही दिया कि द्विवेदी-युग की कविताएँ कविताएँ थीं ही नहीं, वे पद्य थीं। दिनकर के मन्तव्य को हम एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना चाहेंगे।

(१) श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में अनेक स्थलों पर भारत के सांस्कृतिक जगद्गुरुत्व पर प्रकाश डाला है; यथा :

शैशव दशा में देश प्रायः जिस समय सब व्याप्त थे,
निःशेष विषयों में तभी हम प्रौढ़ता को प्राप्त थे।
संसार को पहले हमीं ने ज्ञान-भिक्षा दान की,
आचार की, व्यापार की, व्यवहार की, विज्ञान की।[२]

'भारत-भारती' की ये पंक्तियाँ पद्यबद्ध भाषण हैं, काव्य नहीं। इस सांस्कृतिक जगद्गुरुत्व की बात जब छायावाद का कवि कहता है तो कवित्व अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ फूट पड़ता है :

---

[१]मिट्टी की ओर, ७५।

[२]भारत भारती, १६।

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक,
अखिल संसृति हो उठी अशोक। (—प्रसाद)

ये पंक्तियाँ छायावाद की प्रथम लहर में लिखी गयी थीं, पर बाद में, उसकी प्रौढ़ता के काल में, छायावाद के कवित्व की सुषमा अप्रतिम है :

अरुण यह मधमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
हेम-कुंभ ले उषा सबेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे,
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा। (—प्रसाद)

छायावादी कवि का देश मधुमय है। मधुमयता भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता रही है। 'मधु की कल्पना आज की नहीं है—पुरातन है। ऋग्वेद में मधु की सतत धारा बही है। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीनः सन्त्वोषधीः ।। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नःपिता ।। ऋग्वेद १।९०।६-७।' मधु ने समस्त आर्य जाति को जीवन की कविता दी। मधु यहाँ मिठास का प्रतीक है। इसलिए सोम को भी मधु कहा गया, इक्षु को मधुयष्टि की संज्ञा मिली, शर्करा को मधु वर्णित किया गया। कौटिल्य के अनुसार मधु मृद्वीक (द्राक्ष) रस है। कोकिल को मधुघोष अथवा मधुकंठ नाम मिला, कामदेव को मधुदीप से संबोधित किया गया और आम्रवृक्ष को मधु-आवास की पदवी मिली। भारतीय जीवन में मधु की यह परम्परा अक्षुण्ण रही है। शर्करा, नवनीत एवं मधु को मधुत्रय कहा गया है—यह त्रिवेणी इस मधुमय देश में सदा से बहती रही है।'[१] कविवर जयशंकर 'प्रसाद' के मन में इस देश को मधुमय कहने के पीछे यही परम्परा रही होगी। उसी प्रकार 'अरुण' इस गीत में अरुणाई का प्रतीक है—यह अरुणाई है स्वास्थ्य की, सौन्दर्य की तथा अनुराग की। 'अनजान क्षितिज' के द्वारा प्रसाद अनुद्-बुद्ध देशों को सहारा, आश्रय मिलने की बात कहते हैं। स्पष्ट है कि मैथिली-शरण गुप्त की तुलना में यह अत्यधिक ऊँची उड़ान है।

---

[१] हरिहरप्रसाद गुप्त, धर्मयुग, २८ जनवरी, १९६२।

(२) एक और उदाहरण दिया जा रहा है। 'प्रियप्रवास' की प्रारम्भिक पंक्तियों में हरिऔध ने सन्ध्या का वर्णन यों किया है :

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

हरिऔध की पंक्तियों का शब्द-विन्यास गद्य-सा है। 'दिन' के बदले 'दिवस' रख देने से पंक्ति कविता नहीं बन सकी है। पुनः सूर्य के लिए 'कमलिनी-कुल-वल्लभ' जैसा द्राविड़-प्राणायामी शब्द देने से आतंक बढ़ा है, कविता घटी है। यही बात पंत यों कहते हैं :

तरु शिखरों से वह स्वर्ण-विहग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में, रे किस मग ?

स्वर्ण-विहग का उड़ जाना, उड़ने के समय अपने सुभग पंखों को फैलाना, फिर किसी अज्ञात गुहा के नीड़ में छिप जाना, कितनी सुकुमार कल्पना है ! लगता है कि महावाणी का सारा चमत्कार ही इन पंक्तियों में समाहित हो गया है।

कविता का मुख्य तत्व : वक्रोक्ति

आखिर वह कौन-सा तत्व है जो कविता को गद्य से अलग करता है ? कदाचित् संसार के साहित्य में कुंतक पहला व्यक्ति है जिसने इस तत्व का अन्वेषण कर स्पष्टतापूर्वक इसका उल्लेख किया है। वह तत्व वक्रोक्ति है। दिनकर चमत्कारवादी नहीं हैं, किन्तु वक्रोक्ति को वे भी कविता से गद्य को पृथक करने वाला प्रमुख तत्व मानते हैं। वे लिखते है : 'कई विद्वान कविता को वक्रोक्ति का पर्याय मानते हैं जो बहुत अंशों में सही और दुरुस्त है। वक्रोक्ति ही कविता का वह प्रमुख गुण है जो उसे गद्य से भिन्न करता है। काव्य में कला का विकास, अन्ततः, वक्रोक्ति का ही विकास है। कला अथवा वक्रोक्ति जब अपने चरम विकास पर पहुँचती है तब काव्य का रहस्य गद्योद्घाटन-पटु उँगलियों से नहीं खुलता।'[१] बहुत बाद चल कर 'काव्य की भूमिका' में

[१] मिट्टी की ओर : बलिशाला ही हो मधुशाला, १८५।

दिनकर ने वक्रोक्ति के महत्व को पुनः स्वीकार किया है। उन्होंने कुंतक का उल्लेख कर यह बताया है कि कविता में भाव और शैली की प्रतिस्पर्धा रहती है, और यही कवित्व है। यही बात गद्य के सम्बन्ध में, शास्त्र की भाषा के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। वे लिखते हैं : 'शब्द और अर्थ अथवा भाव और शैली के बीच जो यह नित्य सम्बन्ध है, उसी को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य कुंतक ने साहित्य को शब्द और अर्थ अर्थात् भाव और शैली की पारस्परिक स्पर्धा का परिणाम कहा है। किन्तु कुन्तक यहाँ इलियट की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और गंभीर भी हैं। इलियट के कथनानुसार भाव और शैली के ये दो अलग मापदंड हो सकते हैं, जिनमें से एक के द्वारा तो हमें साहित्य की ऊँचाई की माप करनी चाहिए और दूसरे के द्वारा उसके सौंदर्य की परीक्षा। किन्तु, कुन्तक के अनुसार परस्परस्पर्धी होने के कारण ये दोनों मापदंड वस्तुतः एक ही हैं। यह भी विचारणीय है कि कविताएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें भाव तो ऊँचे नहीं हैं, जो हैं, वे अनुरूप शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। ऐसी कविताएँ इलियट की कसौटी पर कविताएँ तो कही जायेंगी, किन्तु अच्छी या ऊँची नहीं। किन्तु कुन्तक के अनुसार काव्य में ऊँचाई-निचाई का प्रश्न ही नहीं उठता। देखने की बात मात्र इतनी ही है कि कविता में जो भाव हैं, वे अपने अनुरूप शैली में व्यक्त हुए हैं या नहीं, अर्थात् कविता के भीतर यह प्रमाण उपलब्ध है तो वह कविता श्रेष्ठ कही जायगी। मैं समझता हूँ, संसार में कविता की आज जो परिभाषा प्रचलित हो रही है उसे देखते हुए कुन्तक का यह मत सबको ग्राह्य होना चाहिए। यह भी ध्यान देने की बात है कि कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवित' में दो ऐसे श्लोक उद्घृत किये हैं जिनमें से एक तो कोमल से कोमल शब्दों की संघटना है और दूसरे में दर्शन और मीमांसा के अत्यंत ऊँचे विचार और इन दो श्लोकों में से किसी को भी उन्होंने कविता नहीं माना है। कारण स्पष्ट है कि पहले श्लोक में शैली की बहार है, किन्तु उसमें कोई भाव नहीं है। और दूसरे में भाव तो बहुत ऊँचे हैं, किन्तु शैली उसकी शुष्क और कवित्व के प्रतिकूल है। कविता को कविता होने के लिए शैली और भाव के बीच परस्परस्पर्धी समभाव चाहिए, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच संतुलन चाहिए, विचार और भाषा में से किसी को भी एक दूसरे के पीछे नहीं रहना चाहिए।'[१]

---

[१] काव्य की भूमिका, १०५-१०६।

कविता और बोलचाल की भाषा की एकरूपता का आन्दोलन

कविता और बोलचाल की भाषा एक हो, इस आन्दोलन की शुरुआत वर्ड्स्वर्थ ने की थी। हम इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कि स्वयं कॉलरिज ने ही वर्ड्स्वर्थ की इस स्थापना का खंडन कर दिया था। दिनकर वक्रोक्ति का पक्ष प्रस्तुत कर के भी कभी-कभी इस नारेबाजी की धारा में बह जाते हैं। वे लिखते हैं : 'कविता और गद्य की भाषा एक हो, यह तो साहित्य के स्वास्थ्य की निशानी है। गद्य यदि बाजार और व्यापार की भाषा है तो कविता को भी बाजार और व्यापार में उतरना ही चाहिए।'[१] दिनकर का तात्पर्य यहाँ यदि यह हो कि कविता और गद्य के शब्दकोश लगभग एक हों, तब इस कथन का औचित्य है; किन्तु, यदि उनका मतलब यह हो कि दोनों की भाषा की भंगी एक होनी चाहिए, तो यह भ्रान्त स्थापना है। कदाचित् दिनकर ने यहाँ इलियट से प्रभाव ग्रहण कर कहना चाहा है, किन्तु इलियट के मन्तव्य को वे ठीक-ठीक नहीं पकड़ पाये हैं। इलियट की पंक्ति है : 'कविता और गद्य का परस्पर घात-प्रतिघात साहित्य के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है।' (Interaction between prose and poetry is essential for the vital growth of literature.) इलियट पारस्परिक आदान-प्रदान की बात करते हैं, वे इससे आगे नहीं गये हैं। किन्तु दिनकर ने कविता और गद्य की भाषा की अनुरूपता की वकालत की है। स्वयं दिनकर ने इससे पहले इसकी सम्भावना पर विचार किया था और इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में वर्ड्स्वर्थ का भी उल्लेख किया था; किन्तु इस आन्दोलन की अव्यवहार्यता उनसे छिपी न रह सकी। वे लिखते हैं : 'कविता की भाषा भी बोल-चाल की भाषा हो, इस आन्दोलन का आरम्भ अंग्रेजी में वर्ड्स्वर्थ ने किया था और हिन्दी में कदाचित् स्वयं भारतेन्दु ने। किन्तु अब तक के प्रयोगों से काम पूरा नहीं हुआ। कविता बार-बार अपने लिए विशिष्ट भाषा उत्पन्न कर लेती है। फिर भी प्रयास जारी है कि कवि की भाषा सामान्य मनुष्य की भाषा से भिन्न नहीं हो।'[२] हमारा ख्याल है कि यह प्रयास कभी भी सफल नहीं होगा क्योंकि कविता का लोक दैनंदिन व्यवहार का लोक नहीं होता और दैनंदिन व्यवहार की भाषा से उसका काम नहीं चल सकता है। हाँ, कविता की भाषा में प्राचीनता-

---

[१] उजली आग, नूतन काव्यशास्त्र, ४०।

[२] नयी कविता के उत्थान की रेखाएँ : अर्धनारीश्वर, ६५।

वाद अधिक होता है, इसलिए एक विशेष अन्तराल पर वह गद्य की भाषा से कुछ ग्रहण कर अपने को ताजा बना लेती है, पर वह कभी भी गद्य की भाषा मात्र हो कर नहीं जी सकती।

कविता की भाषा में शब्द-चयन का महत्व

कविता की भाषा में शब्दों—उपयुक्त शब्दों—के चुनाव का अत्यन्त महत्व है। कविता के शब्द कहते नहीं, ध्वनित करते हैं। ध्वनन करने का गुण प्रत्येक शब्द में नहीं होता है। अधिकांश शब्द स्पष्ट होते हैं। वे कुछ अधिक ध्वनन नहीं कर पाते हैं। अतः कवि को ऐसे शब्दों को चुनना पड़ता है, जो ध्वनित कर सकें, व्यंजित कर सकें। ऐसे शब्द की प्रकृति का भाव और विचार के साथ मेल रहता है। दिनकर शब्द-चयन के महत्व से परिचित हैं। वे लिखते हैं: 'महाकवि वह है जो अपने शब्दों के मुँह में जीभ दे दे। इस दृष्टि से कीट्स महाकवि है, क्योंकि उसके शब्द बोलते हैं और उसके विशेषणों में चित्रों को सजीव कर देने की शक्ति है।'[1] दिनकर ने इसी के आस-पास लिखा है: 'शब्द-चयन की कसौटी पर कवि-कला की जैसी परीक्षा होती है, वैसी, शायद, अन्यत्र नहीं हो सकती।...शब्दों का स्वभाव है कि प्राचीन होते-होते वे अपनी ताजगी, शक्ति और सुन्दरता खो बैठते हैं। अधिक प्रयोग से उनमें एकरसता आ जाती है और उनका अर्थवृत्त संकुचित हो जाता है। कवि नवीन प्रयोगों के द्वारा उनके सौन्दर्य और शक्ति को पुनरुज्जीवित करता है। भाषा पर शब्द के अभाव का लांछन लगा कर जो कवि निरंकुशता का दावा करता है, वह शक्तिशाली नहीं हो सकता। उसकी प्रतिभा सीमित है। अतएव, उसे दुर्बल कहना चाहिए। सच्चे कवि नये शब्द भी गढ़ते हैं और प्राचीन शब्दों की पूरी शक्ति को भी नवीन तथा प्रतिभापूर्ण प्रयोगों के द्वारा जाग्रत और प्रत्यक्ष कर के भाषा का बल बढ़ाते हैं। शब्दों के रूप, गुण और ध्वनि से जितना सम्बन्ध कवि को है, उतना किसी अन्य साहित्यकार को नहीं। अतएव, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि कवि को करनी ही चाहिए; जिसमें यह शक्ति नहीं है, उसे कवि कह कर हम कवि प्रतिभा का अनादर करते हैं।'[2]

शब्द-चयन का यह कार्य कवि चेतना के सबसे जाग्रत धरातल पर करता है और उसकी परख की कसौटी यही है। एक भाव की खिड़की से शब्दों की

---

[1] मिट्टी की ओर, १५२।

[2] वही, १५१।

कितनी फुहार आती है, कवि किसी एक फुहार से ही अपनी भाषा को कितना सींचता है। शब्दों को सूँघ कर परखने की शक्ति प्रतिभाशाली कवि में होनी चाहिए। ऐसा कवि यह जानता है कि कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं होता है, हर शब्द की अपनी आत्मा होती है, अपना वातावरण होता है। उसकी प्रतिभा की पहचान इस बात में है कि वह उपयुक्त शब्द को चुन ले। दिनकर लिखते हैं : 'काव्य-रचना के सिलसिले में कवि-मानस की सबसे बड़ी द्विधापूर्ण स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब वह अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल तथा शक्तिशाली शब्दों के चुनने की चिन्ता करता है और इसी कार्य की सफलता से उस महान आश्चर्य का जन्म होता है जिसके सामने समालोचना पराजित हो जाती है। जो लोग कविता को उन्माद की अवस्था में किया गया पागल का प्रलाप समझते हैं, वे गलती करते हैं। कविता ऐसी आसान चीज नहीं है।...शब्द-चयन ही कविता की वास्तविक कला है। और इसके बिना कविता में कलात्मकता आ ही नहीं सकती।'[१] दिनकर ने अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए पंत की कविता से एक उदाहरण भी दिया है :

> **'कालाकाँकर का राजभवन,**
> **सोया जल में निश्चिन्त प्रमन।'** (—नौका-विहार : पंत)

'रेखांकित शब्दों के प्रयोग पर ध्यान दीजिए। आपको मानना पड़ेगा कि ये शब्द अपने में पूर्ण हैं। दृश्य की शांति की गंभीरता इन शब्दों में साकार हो रही है। कवि ने यह बतला दिया है कि 'सोया' और 'निश्चिन्त' जिनका हम रोज ही प्रयोग करते हैं, अभिव्यक्ति के लिए कितने शक्तिशाली हैं, उनमें चित्र और अर्थपूर्णता किस मात्रा में छिपी हुई है। ऐसा मालूम होता है कि महावाणी का सारा चमत्कार प्रवाहित हो कर इन दो शब्दों में पुंजीभूत हो गया हो।'[२]

विशेषणों का प्रयोग

शब्द-चयन की कला की भी सबसे अधिक पहचान विशेषणों के प्रयोग में होती है। दिनकर के शब्दों में : 'विशेषणों के प्रयोग के समय शब्द चुनने के क्रम में ही कवि को भाषा के स्रष्टा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त होता है।'[३] विशेषणों के प्रयोग के महत्व की मीमांसा करते हुए वे पुनः 'काव्य की

[१]मिट्टी की ओर, १५१–१५२।
[२]वही, १५०।
[३]वही, १५०।

भूमिका' में लिखते हैं : 'कवि में जो प्रज्वलन वाला गुण है, प्रेरणा के आलोक में शब्दों को सजीव बना देने वाली शक्ति है, उसका सबसे बड़ा चमत्कार विशेषणों के प्रयोग में देखा जाता है। विशेषणों के प्रयोग में आधी सफलता और आधी असफलता नहीं होती। कवि या तो पूर्ण रूप से सफल अथवा सर्वथा असफल हो जाता है।...शब्दों के सम्यक् चुनाव की जैसी पहचान विशेषण में होती है, वैसी संज्ञा और क्रिया में नहीं।'[१] दिनकर पंत का उदाहरण देते हैं कि : 'दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गयी नील झंकार' इस पंक्ति में नील विशेषण का अत्यन्त सार्थक, वरन विलक्षण प्रयोग हुआ है।'[२]

अलंकार और अलंकार्य का सम्बन्ध-विवेचन

दिनकर इस मत के समर्थक हैं कि कविता में अलंकार बाहर से आरोपित नहीं होता है। सच तो यह है कि यह 'अलंकार' शब्द ही भ्रान्तिमूलक है। कविता में बिम्बमय भाषा का आगमन भावनाओं के अनुकूल स्वतः होता है। जिस प्रकार पेड़ में नये पत्ते स्वतः आते हैं, उसी प्रकार अनुभूति की आँधी में उपमाओं और रूपकों की वर्षा स्वयं होने लगती है। अतः अलंकार और अलंकार्य का भेद कृत्रिम है, अव्यावहारिक है। एक विशेष अनुभूति को मूर्त करने के लिए एक विशेष प्रकार के अलंकार आ जाते हैं। दिनकर लिखते हैं : 'चित्र रेगिस्तान से उड़ कर नहीं आते। वे उस कवि के मस्तिष्क से निकलते हैं, जो कल्पना और विचार से लबालब भरा हुआ है तथा जो संक्षिप्त होने के लिए अलंकारों में बोलना चाहता है। अलंकार शब्द से, वैसे तो, अनावश्यक बनाव-शृंगार की भी ध्वनि निकलती है, किन्तु कविता में अलंकारों के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजना नहीं, वस्तुओं का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में जब भी हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते हैं, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है। ...सच्चे अर्थों में मौलिक कवि वह है जिसके उपमान मौलिक होते हैं और श्रेष्ठ कविता की पहचान यह है कि उसमें उगने वाले चित्र स्वच्छ और सजीव होते हैं।'[३]

---

[१] काव्य भूमिका, १४५।

[२] वही, १४५।

[३] चक्रवाल की भूमिका, ७३।

भाषा की चित्र-व्यंजना

इस पर द्वितीय परिच्छेद में पूर्ण विचार किया गया है। व्यर्थ की आवृत्ति अनावश्यक है।

प्रतिभाशाली कवि 'भाषा का सम्राट' होता है। वह जैसे चाहता है, अपनी बात भाषा से कहलवा लेता है। भाषा ही वह रथ है जिस पर चढ़ कर भावनाएँ देशाटन को निकलती हैं। अतः भाषा पर जिसे संपूर्ण अधिकार नहीं होगा, वह निर्दोष अभिव्यक्ति वाला काव्य नहीं लिख सकता है। भाषा की परख वस्तुतः कवि प्रतिभा की ही परख है। अतः दिनकर ने कविता की भाषा की महत्व-सिद्धि की इतनी वकालत की है। बात ठीक ही है। कवि काव्य-रचना दो धरातलों पर करता है। पहला धरातल अनुभूति और विचार का है। किन्तु यह धरातल ऐसा है, जिसके सम्बन्ध में कवि अन्य मनुष्यों की तुलना में कुछ अधिक दावा नहीं कर सकता। अन्य मनुष्य भी वैसा ही सोच सकते हैं, वैसा ही अनुभव कर सकते हैं जैसा कि कवि करता है। कवि की विशिष्टता तब प्रमाणित होती है जब वह चिन्तन, कल्पना और भावना को अभिव्यक्ति के धरातल पर लाना चाहता है। यहीं, यदि वह सच्चा कवि है, तो बड़ी सफाई से अपनी बात कह जायगा और यदि उसकी प्रतिभा छद्म है तो उसकी स्थिति 'लिखत सुधाकर लिखिगा राहू' सी हो जायगी। अतः कविता का चरम विश्लेषण भाषा का ही विश्लेषण हो जाता है। कविता का भाव पक्ष, हमारी राय में, काव्यालोचन का विषय नहीं हो सकता है।

सर्प-बिम्ब

समग्र आधुनिक काव्य में सर्प-बिम्ब का सबसे अधिक प्रयोग दिनकर ने किया है। उनकी अब तक की सभी कविताओं में सर्प-बिम्बों की कुल संख्या १११ है। 'रेणुका' में ५, 'हुंकार' में ७, 'सामधेनी' में ७, 'कुरुक्षेत्र' में १३, 'बापू' में ७, 'धूप-छाँह' में १, 'रश्मिरथी' में २२, 'नील कुसुम' में ११, 'नये सुभाषित' में १, 'सीपी और शंख' में ४, 'उर्वशी' में ८, 'परशुराम की प्रतीक्षा' में १५, 'कोयला और कवित्व' में १, 'आत्मा की आँखें' में २, और 'मृत्ति-तिलक' में ७ सर्प-बिम्ब हैं। सबसे अधिक सर्प-बिम्ब 'रश्मिरथी' में हैं और सबसे कम 'धूप-छाँह', 'नये सुभाषित' और 'कोयला और कवित्व' में। 'रसवंती' और 'द्वन्द्वगीत' में एक भी सर्प-बिम्ब नहीं है। 'धूप और धुआँ' की प्रति प्राप्य नहीं होने के कारण इस निबन्ध में वह विचारणीय नहीं है।

साँप : मानवीय जिह्मताओं का प्रतीक

यह साँप एक 'एम्बिवैलेंट' (Ambivalent) प्रतीक है। यह सामूहिक अवचेतन (Collective unconcious) के मुख्य विचारों को व्यक्त करने वाला प्रतीक है। यों भी बहुत पुराने समय से यह मनुष्य की जिह्मताओं को व्यक्त करने वाला प्रतीक रहा है। ईसाई धर्मशास्त्रों में यह मनुष्य को लुब्ध कर पाप की ओर ढकेलने वाला माना गया है। यह सब दिन से मनुष्य के भय का कारण रहा है। जीवन में जहाँ कहीं छल है, प्रपंच है, धोखा है, फरेब है, विश्वासघात है, वहाँ-वहाँ साँप है। आस्तीन का साँप तो मुहावरा ही बन गया है। यह साँप दुष्टता, ईर्ष्या, रोष, संहार, छलछंद आदि का प्रतीक माना जाता है। दिनकर की कविताओं में सर्प-बिम्ब का अधिकांश प्रयोग इसी रूढ़िगत अर्थ में हुआ है। यथा :

(१) व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल। —रेणुका (हिमालय)

(२) गूँज रहीं संस्कृति-मंडप में
भीषण फणियों की फुफकारें,
गढ़ते ही भाई जाते हैं,
भाई के वध-हित तलवारें। —रेणुका (कस्मै देवाय ?)

(३) भूखी बाघिन की घात-क्रूर,
आहत भुजंगिनी के दंसन। —हुंकार (विपथगा)

(४) आज कठिन नरमेध ! सभ्यता ने
ये क्या विषधर पाले ! —सामधेनी (अतीत के द्वार पर)

(५) यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर
गरल उड़ेल लोटने वाली। —सामधेनी (दिल्ली और मास्को)

(६) क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो, —कुरुक्षेत्र

(७) उठता कराल हो फणीश फुफकार है, —कुरुक्षेत्र

(८) बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का विष से भरा दशन है। —कुरुक्षेत्र

(९) थी परस्व ग्रासिनी भुजंगिनि,
वह जो जली समर में। —कुरुक्षेत्र

(१०) कहीं प्रतिशोध का कोई भुजंगम पालता था —कुरुक्षेत्र

(११) द्रुपदा-कच में थी जो लोभ की नागिन, —कुरुक्षेत्र

(१२) प्राण में अब भी वहीं फुंकार भरता नाग। —कुरुक्षेत्र

(१३) विष के मतवाले कुटिल नाग —बापू

(१४) पर, तुम साँपों से भी कराल,
काँटों से भी काले निकले, —बापू

(१५) नागिन होगी वह, नारि नहीं। —रश्मिरथी

(१६) सर्पिणी परम विकराली थी। —रश्मिरथी

(१७) मानवी रूप में विकट साँपिनी हूँ मैं —रश्मिरथी

(१८) वय अधिक आज तक व्यालों के
पालन पोषण में बीता है। —रश्मिरथी

(१९) पुरुष की बुद्धि गौरव खो चुकी है
सहेली सर्पिणी की हो चुकी है। —रश्मिरथी

(२०) ये नर-भुजंग मानवता का
पथ कठिन बहुत कर देते हैं। —रश्मिरथी

(२१) ओ शंका के व्याल ! देख मत
मेरे श्याम वदन को। --नील कुसम (व्याल-विजय)

(२२) विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है
—नील कुसम (व्याल-विजय)

(२३) कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है ।
—नील कुसम (व्याल-विजय)

(२४) जहाँ जहाँ है फूल, वहाँ क्या साँप है ? —नये सुभाषित

(२५) पर्वत पर से उतर रहा है महाभयानक व्याल —परशुराम की प्रतीक्षा

(२६) सुनती हो नागिनी ! समझती हो इस स्वर को ? —परशुराम की प्रतीक्षा

(२७) तोड़ेगा सिर नहीं विषधर भुजंग का ? —परशुराम की प्रतीक्षा

(२८) डँसे एक को सर्प अगर तो दस मिल कर हँसते हैं।—परशुराम की प्रतीक्षा

(२९) श्रम पिला पालता स्वार्थ-व्याल —मृत्ति-तिलक

(३०) पालता अन्य विषधर भुजंग —मृत्ति-तिलक

मनुष्य की जिह्मताओं को व्यक्त करने वाले सर्प-बिम्ब दिनकर-काव्य में इतने ही नहीं है। उनकी संख्या ७५ से ऊपर है।

सांस्कृतिक क्षयिष्णुता से संघर्ष करने वाला कवि मनुष्य के कलुष पर झुँझलाता है। मनुष्य की विरूपता उसे स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए ईर्ष्या, रोष, विनाश, छलछंद, लोभ, घृणा विश्वासघात, शोषण-दोहन आदि को वह सर्प-बिम्ब के द्वारा व्यक्त करता है। सर्प उत्तेजना से रहित (cold blooded) होता है, जिह्व इसकी बीच से फटी होती है। यह मनुष्य के उस व्यक्तित्व का प्रतीक है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में एक ही भाषा नहीं बोलता है। आधुनिक जीवन की विडंबना यह है कि मनुष्य न तो क्रिया से सिद्ध है, न वाणी से शुद्ध। दिनकर ने सर्प-बिम्ब द्वारा इस बात को बड़ी सफाई से कहा है :

> **...माया है नाम भ्रमित उस धी का,**
> **बीचो-बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई हैं;**
> **एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को,**
> **और दूसरी से बाकी का वर्जन सिखलाती है।**[1]

सर्प की द्विधा-विभक्त जिह्वा का यह विलक्षण प्रयोग मानव की चारित्रिक क्षयिष्णुता के प्रसंग में किया गया है।

---

[1] **उर्वशी, ७८।**

व्याल-विजय : एक चरम परिणति

फिर भी सर्प को इस रूप में देखने की दृष्टि परम्पराभुक्त ही कही जायगी। दिनकर-काव्य में इस दृष्टि की चरम परिणति 'व्याल-विजय' कविता में मिलती है। यह व्याल मनुष्य का कलुष है, उसका पाप है। इस युग में भी सार्पिक मनोवृत्तियों का अभाव नहीं है। मनुष्य प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में अपने ही कलुष से संघर्ष करता आया है। मनुष्य की जय-यात्रा देवत्व की ओर हो रही है। ये व्यालयानी मनुष्य की अपनी ही जिह्मताएँ उसकी बाधक हैं। इसलिए 'व्याल-विजय' में कवि विषधर को फण तानने के लिए कहता है जिसपर खड़ा हो कर वह कृष्ण की तरह सुरुचि और सौन्दर्य-बोध की बाँसुरी बजा सके। 'कालियदह' पशुता का पुंजीभूत कोश है। मनुष्य को उससे बाहर निकलना ही है। अपने ही विष से मत्त यह साँप अपने ही भाई को नहीं पहचानता है। मनुष्य के प्रत्येक कलुष पर अमृत छिड़कने वाला कवि साँपों की पीठों पर कुसुम लादने आया है। कृष्ण आज का मनुष्य है जो अपनी ही जिह्मताओं के कारण लघुता को प्राप्त हुआ है, फिर भी वह सापों से अभी भी श्रेष्ठ है। मनुष्यता मरी नहीं है। फिर भी, 'कल्याण तब तक नहीं दीखता, जब तक ये साँप, युग के ये साँप, समाज के साँप, व्यक्ति के भीतर के ये साँप दमित न हो जायँ। इसके लिए कृष्ण जैसा कर्मठ चाहिए और बाँसुरी जैसा अहिंसात्सक माध्यम।',[१] 'व्याल-विजय' कविता इसी विराट पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है। यह कविता दिनकर-काव्य की आकस्मिक घटना नहीं है, प्रत्युत सांस्कृतिक क्षयिष्णुता और मनुष्य की विरूपता से संघर्षशील काव्य की श्रेष्ठ स्वाभाविक परिणति है। 'व्याल-विजय' दिनकर-काव्य की प्रमुख चेतना का अत्यन्त सशक्त प्रतिनिधत्व करता है।

सर्प : काल का प्रतीक

सर्प काल का प्रतीक है। यह काल ही है। विष्णु के शेषशायी रूप की पौराणिक परिकल्पना काल की ही परिकल्पना है। काल के बिना हमारा अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। सर्प काल है, क्योंकि वह लम्बा होता है, पाँव उठा कर नहीं चलता, केवल सरकता है। काल की अनंतता का यह प्रभाव-

---

[१] **हिन्दी काव्य : व्यावहारिक आलोचना; 'व्याल-विजय' पर प्रो० जगदीश नारायण चौबे के निबन्ध से उद्धृत (गंगा पुस्तकालय, पटना)।**

शाली प्रतीक है। पुराणों में यह वर्णन आया है कि शेषनाग के दस हजार मस्तक हैं। यह दस सहस्र भी उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य कि उसके असंख्य मस्तक हैं। यह शेष, जो कि काल का प्रतिरूप है, असंख्य रूपों में सृष्टि में विकास और संकोच का काम करता रहता है। यथा :

त्वया धृतोऽयं धरणीं विभर्त्ति चराचरं विश्वमनन्तमूर्ते ।
कृतादिभेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्सि ॥[१]

यानी 'हे अनन्त रूपवाले ! तुम जिस धरता को धारण किये रहते हो, वह चराचर विश्व को धारण किये रहती है। हे अज ! निमेष (पल) से ले कर कृत (सत्य) युग आदि विभाग-युक्त कालरूप से इस संसार को खाते रहते हो।'

काल का प्रतीक चक्र को भी माना गया है, किन्तु साधारणतः सर्प ही काल का प्रतीक माना गया है :

रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगः ।[२]

यानी 'राम से भयंकर काल-सर्प डरता रहता है।' तुलसी ने 'रामचरित-मानस' में लिखा है कि काशीश शिव काल-रूपी भयंकर सर्प को भूषण की तरह धारण किये रहते हैं :

कालव्यालकरालभूषणधरम् (काशीशम्) ।[३]

अध्यात्मरामायण में उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ बेंग, मच्छड़ इत्यादि को खाना चाहता है, उसी तरह काल-सर्प से ग्रस्त लोग क्षणिक सुख को भोगना चाहते हैं :

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥[४]

ब्रह्म पुराण में यह कहा गया है कि भगवान कृष्ण, रुद्र रूप धारण कर सारी सृष्टि को आत्मस्थ करने के लिए संहार का यत्न करते हैं।

---

[१] विष्णु पुराण, ५, ६, २९ ।
[२] स्कन्द पुराण (उत्तर खंड) ।
[३] रामचरितमानस, लंका कांड के प्रारम्भिक श्लोक ।
[४] अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, ४-२१ ।

तत्पश्चात सृष्टि का हरण करने वाले ये कालाग्नि हर, शेषनाग की साँसों के ताप से नीचे पाताल लोकों को भी जला देते हैं :

> ततः स भगवान् कृष्णो रुद्ररुपधरोऽव्ययः ।
> कर्माय यतते कर्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः ।
> ततः कालाग्निरुद्रोसौ भूतसर्गहरो हरः ।
> शेषाहिश्वाससंतापात् पातालानि दहत्यधः॥[1]

यहाँ सृष्टि की संहारक शक्ति को काल, रुद्र, कृष्ण और शेष कहा गया है। इसमें कोई भेद नहीं माना गया है।

डॉ० जनार्दन मिश्र के अनुसार : 'काल के उत्क्षेप और संकोच क्रिया की लपेट में सारी सृष्टि पड़ी हुई है। संसार के ऊपर यही काल-सर्प की लपेट है। काल गति और दिक् की स्थिति—इन दोनों की खींचा-खींची में सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया चलती रहती है। दिक् की स्थिति-शक्ति का प्रतीक पृथ्वी है। पृथ्वी और सर्प—अर्थात् दिक् और काल—इस महालीला में, प्रभु के प्रधान सेवक बन कर उनके इच्छानुसार अपने कार्य में लगे रहते हैं। जब सारी सृष्टि का लोप हो जाता है, तब सब के अन्त के बाद अन्तिम लय तक यह गति-शक्ति कुछ न कुछ बची रहती है। इसलिए इसका नाम शेष है। यह शेष (बचा हुआ) भी अन्त में अपनी उद्‌गम-भूमि महाकाल में लीन हो जाता है। 'शेष' कारण के अर्णव में तैरता रहता है। यह कारण भी पीछे अशेष कारण-ब्राह्म में लीन हो जाता है।'[2] डॉ० मिश्र आगे लिखते हैं : 'घनीभूत काल जैसा होगा, उससे उसका कुछ आभास मिल सकता है। कालिन्दी से अशेष कारणार्णव की ओर संकेत है, जिसमें काल-सर्प के मस्तक पर वह नटवर नटराज लगातार नृत्य करता रहता है। वह स्वयं काल है और काल की गति उसके भीतर होती है। वह काल की क्रियाओं से सीमावद्ध नहीं है। वही सबको समेट कर आत्मसात् कर लेता है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की गति का वही हेतु है।'[3]

यदि कार्य और कारण को एक रूप में देखा जाय तो विष्णुरूप में काल अनन्त बन जाता है और महेशरूप में महाकाल। विष्णुरूप में अनन्त (नाग) की परिकल्पना इस प्रकार की जाती है :

---

[1] ब्राह्मपुराण, अध्याय २३२, श्लोक १६, २४।

[2] भारतीय प्रतीकविद्या, ६७।

[3] वही, ६८।

अनन्तोऽनन्तरूपस्तु हस्तैर्द्वादशभिर्युतः ।
अनन्तशक्तिसंवीतो गरूडस्थश्चतुर्मुखः ॥
गदाकृपाणचक्राद्यो वज्राङ्कुशवरान्वितः ।
शङ्खखेटधनुः पद्मं दण्डपाशौ च वामतः ॥[१]

'काल के सर्परूप में पाँच और सातमुख बनाने का विधान है। यह पंचभूत और सप्तलोक में व्याप्त, काल की क्रियाओं का प्रतीक है।'[२]

इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तावस्था में सृष्टि का प्रवर्तन और समावर्तन करने वाली शक्ति ही काल है। इसी का प्रतीक सर्प है।

सर्प का काल के प्रतीक के रूप में दिनकर ने अच्छा उपयोग किया है। दिनकर शेषनाग को काल के प्रतीक के रूप में ही ग्रहण करते हैं। यथा :

(१) जा रहा बीतता होम-लग्न
करवटें चुका ले शेष-व्याल।

—हुंकार (चाह एक)

(२) ओ अशेषफण शेष ! सजग हो
थामो धरा, धरो भूधर,
मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी
टूट न पड़े कहीं अम्बर।

—हुंकार (मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी)

शेष को अशेषफण कहने का तात्पर्य यह है कि काल के चरण अनंत हैं।

शेष तो भारतीय पौराणिक कल्पना में काल का प्रतीक ही माना गया है। किन्तु सर्प को ही दिनकर ने काल के प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है। नाग देवता की पूजा एक अत्यन्त ही प्राचीन परम्परा है। हम सर्प की पूजा करते हैं, क्योंकि हम मृत्यु से डरते हैं। यह पूजा केवल भारत में ही नहीं होती है। मिस्र की पत्थर की प्राचीन कब्रों पर सर्प की प्रतिकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मेक्सिको के पंख वाले सर्पों की चर्चा हम सुनते आये हैं। भारतीय पुराणों में सर्प की कथाएँ भरी हुई हैं। सर्प-दंश विषैला होता है। अधिकांश दंश की चरम परिणति मृत्यु है। इसीलिए यह मरण और संहार का प्रतीक बन गया है। काल चूँकि बुढ़ापे और मृत्यु का कारण माना गया है, इसलिए सर्प भी काल का

---

[१]Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914, vol. I.

[२]भारतीय प्रतीकविद्या, ६९ (डॉ० जनार्दन मिश्र)।

प्रतीक है। सर्प से प्रत्येक व्यक्ति को भय होता है, हालाँकि यह भय अनुभव की अपेक्षा जन्मजात अधिक होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सर्प-भय हमारे संस्कार का अपरिहार्य अंश बन गया है। शेष से भिन्न, केवल सर्प को भी दिनकर ने काल के ही रूप में देखा है :

(१) मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट
वसु-काल-सर्पिणी के शतफन। —हुंकार (विपथगा)

(२) जानें, किस दिन फुंकार उठें
पद-दलित काल-सर्पों के फन। —हुंकार (विपथगा)

(३) स्वागत है, आओ, काल-सर्प के
फण पर चढ़ चलने वाले। —सामधेनी (जयप्रकाश)

(४) तूफाँ से ले कर काल-सर्प तक
मुझको छेड़ बजाता है। —सामधेनी (जयप्रकाश)

(५) मैं काल-सर्प से ग्रसित
कभी कुछ अपना भेद न गा सकती —सामधेनी (राही और बाँसुरी)

(६) वह काल-सर्पिणी की जिह्वा,
वह अटल मृत्यु की सगी स्वसा, —रश्मिरथी, सर्ग ६

(७) हो गया तिरोहित काल-नाग —सीपी और शंख

इन सभी उदाहरणों में सर्प काल का प्रतीक है, साथ ही मृत्यु का प्रतिरूप भी। किन्तु आधुनिक काव्य में काल-सर्प की सबसे विराट कल्पना पंत के 'परिवर्तन' में मिलती है।[१] सांगरूपक की भाषा में पंत ने छायावाद की विराट उपमान-योजना का चमत्कार उपस्थित किया है।

उरोबोरॉस : अनंतता का साँप

पश्चिम में उरोबोरॉस की कथा में सर्प को इसी काल का प्रतीक

---

[१] अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुंडल दिङ्मंडल। —पल्लव

माना गया है। उरोबोरॉस कुण्डली मारे साँप है, अपने मुँह से अपनी ही पूँछ को काट रहा है। यह एक और सब का प्रतीक है। व्यक्ति के मध्य जीवन पर ही व्यक्तित्व की समग्रता के निर्माण का दायित्व आता है। लगता है, यह मृत्यु के लिए तैयारी है। मृत्यु जन्म से किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण चीज नहीं है और जन्म की तरह यह जीवन का अपरिहार्य अंश है। यहाँ तो प्रकृति स्वयं हमें अपनी शरणदायिनी बाँहों में ले लेती है। ज्यों-ज्यों हम बूढ़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों बाह्य विश्व का रंग फीका पड़ने लगता है, इसकी तीव्रता शमित होने लगती है और उद्वेग ठंडा होने लगता है। जीवन की चरम वास्तविकता तो यह है कि बूढ़ा होने के क्रम में व्यक्ति समूह-मन (Collective psyche) में बूँद-बूँद कर के शनैः-शनैः पिघलने लगता है। यह वही समूह-मन है जिससे बड़े आयास द्वारा वह शिशु के रूप में निकला था। इसी तरह मानव-जीवन का चक्र अर्थपूर्ण सामंजस्य में परिणति पाता है और प्रारम्भ और अन्त एक दूसरे से मिल जाते हैं। यही घटना अनादि काल से उरोबोरॉस की कथा के द्वारा व्यक्त की जाती रही है। यह अनंतता का साँप है। 'उर्वशी' के तृतीय अंक में पुरूरवा एक जगह उद्वेग में कहता है :

सामने टिकते नहीं वनराज, पर्वत डोलते हैं,
काँपता है कुंडली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह में मारुत, गरुड़, गजराज का बल है।[१]

यह 'उरोबोरिक इमेज' है। दिनकर ने यह बिम्ब अरविन्द से लिया है। अरविन्द ने 'उर्वशी' में लिखा है : 'Time like a Snake coiling among the Stars.' सर्प का कुंडली मार कर बैठना उसकी एक प्रभावशाली अदा है। दिनकर को यह अदा खूब पसंद है। एक जगह 'उर्वशी' में वे लिखते हैं : 'कहीं कुंडली मार बैठ जाओ नक्षत्र-निलय में, मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य-वेदी पर।'[२] काल के प्रतीक के रूप में सर्प-बिम्बों की संख्या दस है।

काम-क्षुधा का प्रतीक

जो सर्प मृत्यु-भय का कारण है, स्वयं मृत्यु ही है, वह सृष्टि के प्रवर्तन का भी कारण माना गया है। यानी सृष्टि का प्रवर्तन और समावर्तन करने

---

[१] उर्वशी, ५३।

[२] वही, ६६।

वाली शक्ति काल ही है। अतीत काल से ही, एस्कुलेपियस के समय से ही, सर्प व्याधि से मुक्ति का भी साधन माना जाता रहा है। सर्प-विष तो आधुनिक चिकित्सा का अपरिहार्य अंग है। इसलिए अनादि काल से सर्प अमरत्व का प्रतीक माना जाता रहा है। चूंकि यह अपना केंचुल बदल सकता है, अतः इसे पुर्नजन्म का भी प्रतीक माना गया है। यह विश्वास बहुत पुराना है कि मरे हुए व्यक्ति सर्प-काया में प्रकट होते हैं। इस प्रकार यह एक 'एम्बीवैलेंट' (ambivalent) प्रतीक है।

चूंकि यह सर्प सृष्टि का प्रवर्तन करने वाली शक्ति का भी प्रतीक है, इसलिए मनुष्य की काम-भावना का भी यह प्रतीक बन जाता है। फ़ायड का कहना है कि मृत्यु की ध्रुवीय भावना (polar instinct) काम है। आज का मनोविज्ञान यह मानता है कि स्वप्न में कभी-कभी कोई वस्तु अपनी विपरीत भावना को व्यक्त करती है। युंग ने तो स्पष्ट कहा कि स्वप्न के सर्प व्यक्ति की शिश्न-भावना के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार मृत्यु का प्रतीक काम के प्रतीक में रूपान्तरित हो गया है।

'नील कुसुम' में संग्रहीत 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक कविता को दिनकर-काव्य में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का विन्दु मानना चाहिए। इसी कविता में उन्होंने पहली बार सर्प को फ़ायडवादी प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है। यों इसका उत्स भारतीय पौराणिक कल्पना में भी ढूंढ निकाला जा सकता है। इस कविता से पहले कहीं भी दिनकर ने साँप को काम-भावना के प्रतीक के रूप में नहीं देखा है। 'स्वप्न और सत्य' वाली पंक्तियाँ यों हैं :

हृदय में सुगबुगा उठती जुही के फूल-सी कविता,
लहू में रेंगने लगते हजारों साँप सोने के।[१]

यह साँप काम-क्षुधा का प्रतीक है। 'सोने' विशेषण को जोड़ कर दिनकर ने इस बिम्ब को और प्रभावशाली बना दिया है। 'सोना' कामना का प्रतीक है। कामिनी के साथ कंचन का अपरिहार्य सम्बन्ध है। यही बिम्ब 'उर्वशी' में हूबहू आया है :

रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।[२]

---

[१] **नील कुसुम १४।**

[२] **उर्वशी, ५२।**

उद्दाम वासना से उद्वेलित पुरुष के रुधिर में सोने के सहस्रों साँप का रेंगना कला की दृष्टि से अनमोल है। उसी प्रकार 'सीपी और शंख' में भी साँप को वासना का प्रतीक माना गया है :

> **मगर इतना करो,**
> **लेलिह—सरीसृप—वासना की गाँठ मत खोलो।**[१]

आज का मनोविज्ञान इसका साक्षी है कि वासना का साँप (Sanke of passion), जो कि मनुष्य में अपृथक्कृत सहजात वृत्ति का प्रतीक है, हृदय से निकल कर अवचेतन के समुद्र पर तैरता रहता है। समग्र आधुनिक काव्य में कदाचित् दिनकर एक मात्र कवि हैं जिन्होंने सर्प-बिम्ब का प्रयोग काम-क्षुधा के प्रतीक के रूप में किया है। यों दिनकर में यह बिम्ब तीन ही हैं, एक 'नील-कुसम' में, एक 'सीपी और शंख' में, और एक 'उर्वशी' में।

सर्प-कोश

दिनकर ने न केवल आधुनिक काव्य में सर्प-बिम्बों का ही सर्वाधिक प्रयोग किया है, बल्कि उनका सर्प-कोश सबसे अधिक समृद्ध भी है। साँप के उन्होंने पन्द्रह पर्यायवाची शब्द दिये हैं—व्याल, फणी, भुजंग, नाग, सर्प, विषधर, फणीश, साँप, विषधारी, अजगर, महानाग, अहि, काकोदर, चक्षुःश्रवा, सरीसृप। इनके अतिरिक्त व्याली, भुजंगिनी, नागिन, सर्पिणी, साँपिनी आदि स्त्रीलिंग प्रयोग तो अलग हैं।

सर्प-विशेष में शेष और अश्वसेन का उल्लेख मिलता है। अश्वसेन महाभारत में वर्णित सर्प है जो कर्ण की सहायता के लिए आया था। उसे अर्जुन से द्वेष था। कर्ण ने उसकी सहायता स्वीकार नहीं की। इसके अतिरिक्त सर्प के अंगों और क्रियाओं का भी उल्लेख दिनकर की कविताओं में है। विषदन्त, मणि, गरल, फण, जिह्वा—ये उसके अंग-विशेष हैं जिनका उल्लेख दिनकर की कविताओं में मिलता है। उसके निवास-स्थान वामी का भी उल्लेख अहा है। सर्प की क्रिया, दंश का भी वर्णन मिलता है। सर्प का कुंडली मार कर बैठना भी क्रिया-स्वरूप वर्णित हुआ है। दिनकर ने सर्प के पर्यायवाची शब्दों में किसका कितनी बार प्रयोग किया है, उसकी तालिका दी जा रही है :

साँप २१, सर्प १५, व्याल १२, भुजंग ११, नाग ६,

---

[१] **सीपी और शंख**, ४२।

नागिन ६, सर्पिणी ६, भुजंगिनी ४, विषधर ३, फणी ३, चक्षुःश्रवा २, व्याली १, फणीश १, साँपिनी १, काकोदर १, विषधारी १, महानाग १, सरीसृप १, अजगर १, अहि २। इसके अतिरिक्त सर्प-विशेष, साथ ही, विषदन्त, मणि, दंश, गरल, फण, जिह्वा, कुंडली आदि को ले कर इन बिम्बों की संख्या १११ हो जाती है।

कविताओं में शब्द अनुभूति के ताप से ज्योतित रहते हैं। ठीक इसके विपरीत कोश के शब्द निर्जीव और निष्प्राण होते हैं। कवि किसी भी शब्द को जब चुनता है, तब उसकी आभ्यन्तरिक चेतना को वह परख कर ही ऐसा करता है। इसलिए कविताओं में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं होता है और उसी से उसकी अर्थवत्ता खुलती है। सर्प के लिए जो दिनकर ने अनेक पर्यायवाची शब्दों को चुना है, वह केवल उनके शब्द-कोश की समृद्धि का ही प्रमाण नहीं है। दिनकर सर्प के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का साभिप्राय प्रयोग करते हैं। इसलिए सही मानी में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं रह गया है। इसकी भी एक तालिका दी जा रही है :

(१) काल के लिए	व्याल, सर्पिणी, सर्प, नाग
(२) प्रतिशोध	भुजंग
(३) लोभ	नागिनि
(४) कुटिलता	व्याल, नाग
(५) शंका	व्याल
(६) बोझ	अजगर
(७) परस्वग्रासिनी	भुजंगिनी, व्याली।
(८) डँसना, फुफकार मारना	व्याल, फणी, सर्प, नाग, साँप, भुजंग।
(९) सरकना	भुजंगिनी, भुजंग, साँप।
(१०) रेंगना	साँप
(११) चूसना	साँप
(१२) लटों से उपमा	नागिन
(१३) यौवन से सादृश्य	नाग

यदि हम इस तालिका पर ध्यान दें, तो दिनकर की शब्द सूँघने की शक्ति का पता चल जायगा। 'भुजंग' में जो प्रबलता है, दबंगपन है, वह प्रतिशोध के लिए उपयुक्त है। व्याल शंका की तरह टेढ़ा है। बोझ के लिए अजगर के सिवा कोई दूसरा शब्द आ ही नहीं सकता है। अजगर ही भारी होता है।

यह बिम्ब एक ही जगह आया है : 'यही काल अजगर समान प्राणों पर बैठ गया था।'[१] 'साँप' शब्द जितना ही पिच्छिल है, उतना ही वह 'रेंगना' को ध्वनित कर देता है। रेंग साँप ही सकता है, व्याल, भुजंग, सर्प या अजगर नहीं। इस प्रकार दिनकर शब्दों की आभ्यन्तरिक चेतना से पूर्ण परिचित दीख पड़ते हैं।

पुराणकथा और लोकविश्वास

कई जगह कवि ने पुराणकथा का संकेत किया है। क्षीर-सागर का मंदराचल को मथानी बना कर और सर्प को रस्सी बना कर मंथन किया गया था। इसका वर्णन एक कविता में है :

> जननी सागर-शिला-नाग के भीषण संघर्षों से।[२]

उसी प्रकार यह लोकविश्वास चला आ रहा है कि गगरी में रखे स्वर्ण की रक्षा सर्प करता है। इसका भी उल्लेख एक कविता में है :

> सोने का तज मोह साँप यह
> गगरी छोड़ चला जायेगा।[३]

इसी तरह एक कविता में दीपक को देख कर साँप के फण तोड़ने का वर्णन आया है।

आधुनिक काव्य में सर्प-बिम्ब का सर्वाधिक प्रयोग दिनकर ने ही किया है। सांस्कृतिक क्षयिष्णुता से संघर्ष करने के कारण कवि ने अधिक स्थलों पर साँप को मनुष्य की जिह्वाताओं का ही प्रतीक माना है। पुनः, सर्प को काल का प्रतीक माना गया है। यह काल सृष्टि का प्रवर्तन भी करता है और समावर्तन भी। इसका प्रतीक भारत में शेषनाग है और पश्चिम में उरोबोरॉस। दिनकर पर पाश्चात्य और प्राच्य दोनों पौराणिक परिकल्पनाओं का प्रभाव है। पुनः, साँप फ्रायडवादी प्रतीक के रूप में भी आया है। यह काम-क्षुधा का प्रतीक है। दिनकर की विलक्षणता इस बात में है कि उन्होंने मरण के प्रतीक को बड़ी कलात्मकता से काम के प्रतीक में रूपान्तरित कर दिया है।

---

[१] उर्वशी, ४४।
[२] मृत्ति-तिलक।
[३] नील-कुसुम, ७५।

कुरुक्षेत्र : एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय : १

दर्शन जीवन की व्याख्या का मौलिक प्रयास होता है। दार्शनिक संसार को अपनी दृष्टि से समझने का प्रयास करता है और संसार को जैसा वह समझता है, वैसा ही वह विश्लेषण भी उपस्थित करता है। उसके निष्कर्ष गलत हो सकते हैं, पर उसकी ईमानदारी पर हमें संदेह करना चाहिए। कुरुक्षेत्र एक विचार-काव्य है। कवि का लक्ष्य विचार को काव्य के धरातल पर ऊर्ध्व-पातित करना ही होता है। कविता में यह विचारणीय नहीं है कि विचार एकदम मौलिक हैं या कहीं से आयातित हैं। असलियत तो यह है कि विचारों के क्षेत्र में मौलिकता अभिव्यंजना की मौलिकता होती है। 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने बड़े ही महत्वपूर्ण विचारों को उपस्थित किया है, पर वे विचार काल के गर्भ से ग्रहण किये गये हैं। दूसरे शब्दों में, वे बाह्य प्रभाव की प्रसूति हैं।

रसेल का प्रभाव

पहला प्रभाव जो कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह रसेल का है। रसेल नास्तिक और बुद्धिवादी चिंतक हैं तथा इस शताब्दी पर उनके चिन्तन का व्यापक प्रभाव है। इस युग की सभी प्रमुख समस्या पर उनके सुचिंतित मत हैं तथा नवयुवकों को उन विचारों ने झकझोरा है। रसेल के युग की सबसे प्रमुख समस्या विज्ञान से उत्पन्न समस्या है। विज्ञान के प्रभुत्व ने पुराने मूल्यों को उखाड़ फेंका है और नये मूल्य अब तक जड़ नहीं जमा सके हैं। मनुष्य के हाथ में बेशुमार शक्ति केंद्रित हो गयी है, पर उसी के अनुपात में उसका चित्त विस्तृत नहीं हुआ है। संकीर्ण चित्त के पास एकत्र बेशुमार शक्ति

भयंकर होती है। विज्ञान से उत्पन्न यही समस्या आज प्रमुख बन गयी है। रसेल का कहना है कि विज्ञान स्वयं न तो अच्छा है न बुरा; उसके प्रयोग पर उसकी अच्छाई या बुराई निर्भर है। विज्ञान स्वयं निरपेक्ष है। यह आदमी है जो चित्त की संकीर्णता के कारण विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है। 'कुरुक्षेत्र' का कवि भी कुछ इसी प्रकार की बात कहता है :

इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र हो कर छूटते शुभधर्म अपना भूल,

रसेल का कहना है कि हम बेकार के कामों में अपने समय तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं और जीवन को उदात्त बनाने वाले भावों की अवहेलना करते हैं। हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है और उसी के अनुपात में हमारे हृदय की स्रोतस्विनी सूखती चली जा रही है। दिनकर ने षष्ठ सर्ग में मानव के श्रेय का प्रश्न उठा कर इस सत्य का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। मनुष्य का श्रेय इस आपाधापी में आगे निकल जाना नहीं, प्रत्युत-प्रेम, सेवा आदि उदात्त भावनाओं द्वारा मानव मात्र से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है। यथा :

(क) रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय;
(ख) श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत;
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत;
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान
और मानव भी वही।

रसेल का प्रभाव कवि के केवल विज्ञान सम्बन्धी विचारों पर ही नहीं है, बल्कि व्यक्ति और सत्ता से सम्बन्धित विचारों पर भी है। रसेल मानता है कि समाज में कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं जिनमें कानून तोड़ना अपराध नहीं कहा जा सकता। 'कुरुक्षेत्र' का कवि रसेल से सहमत है। सच तो यह है कि 'कुरुक्षेत्र' का कवि अपने देश में ऐसे समाज की कुक्षि से ही जनमा था जिस समाज के लिए राजद्रोह धर्म बन गया था। उस समय डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद ने कहा था : 'राजद्रोह हमारा परम धर्म है।' 'कुरुक्षेत्र' का कवि यह मानता है कि जहाँ अन्याय होता है, वहाँ यदि मानव अन्यायी के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो इसका दायित्व उनपर नहीं होता। यथा :

दबे हुए आवेग वहाँ यदि उबल किसी दिन फूटें,
संयम छोड़ काल बन मानव अन्यायी पर टूटें;
कहो कौन दायी होगा उस दारुण जगद्दहन का ?
अहंकार या घृणा कौन दोषी होगा उस रण का ?

यही बात पुनः युधिष्ठिर से भीष्म भी कहते हैं :

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर ! सत्य की अन्वेषणा पातक नहीं है।
मरण उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं।
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।

इसी प्रकार दिनकर के मनोविज्ञान सम्बन्धी तथा युद्ध सम्बन्धी विचारों पर भी रसेल का प्रभाव ढूंढा जा सकता है।

तिलक का प्रभाव

'कुरुक्षेत्र' के चिन्तन पर दूसरा प्रभाव तिलक का है। तिलक के 'गीता-रहस्य' ने दिनकर के मनोदेश को गहराई तक झकझोरा है। 'गीता' और 'कुरुक्षेत्र' में विलक्षण समता भी है। तिलक का 'गीता-रहस्य' एक साधारण टीका नहीं है। वह तो हिंदुत्व की सामर्थ्य का पुनराख्यान है। तिलक भारतीय जीवन में आँधी की तरह आये थे और अपने युग के करोड़ों नौजवानों की तरह, उनके विचार, दिनकर के मन में भी खौलते रहे। तिलक ने 'गीता-रहस्य' में यह प्रतिपादित किया है कि सज्जनों का कर्तव्य 'अहिंसा परमोधर्म :' कह कर दुष्टों का अन्याय सहन करना नहीं, अपितु विपत्ति में 'शठेशाठ्यं समाचरेत'- के अनुसार उनका शासन करना है। दिनकर कहते हैं :

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

उनका दूसरा निष्कर्ष है कि अहिंसा, तपस्या, त्याग आदि गुणों की भी एक सीमा होती है। उसे आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। दिनकर भी कहते हैं :

त्याग, तप, करुणा क्षमा से भींग कर,
व्यक्ति का मन तो बली होता मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।

तिलक का तीसरा निष्कर्ष यह है कि आततायी स्वयं ही नष्ट होता है, उसको मारने वाले सज्जन पुरुष को उसका कलंक नहीं लगता। सज्जन पुरुष तो निमित्त मात्र होते हैं। आततायी सज्जन पुरुष के स्वत्व को छीनने के अपकर्म के कारण वध्य होता है। दिनकर तिलक की ही भाषा में कहते हैं :

कुरुक्षेत्र में जली चिता जिसकी, वह शांति नहीं थी;
अर्जुन की धन्वा चढ़ बोली, वह दुष्कान्ति नहीं थी।
थी परस्वग्रासिनी भुजंगिनि, वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था, जो जल उठा पार्थ के शर में।

'कुरुक्षेत्र' में चिंतन का ताना-बाना रसेल और तिलक के इन्हीं विचारों से बुना गया है। अतः 'कुरुक्षेत्र' स्वतंत्र दर्शन नहीं है। वह तो ऐसा सरोवर है जिसका जल अनेक नालियों से बह कर आया है।

ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'कुरुक्षेत्र' क्या किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार है ? ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क की यह विशेषता होती है कि उसमें विचार शृंखलाबद्ध और परस्पर सम्बद्ध रहा करते हैं। वह अपनी बात सुनिर्णीत ढंग से उपस्थित करता है। यह ख्याल रखने की बात है कि विचारों की क्रमबद्धता रोमैंटिक व्यक्ति की कोई विशेषता नहीं होती है। रोमैंटिक व्यक्ति के मस्तिष्क में एक पर एक विचार आँधी में उड़ते हुए पत्ते की तरह आते हैं। उनमें क्रमबद्धता या शृंखला नहीं होती है। पर 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका में दिनकर जी ने लिखा है : 'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को ले कर है।' 'कुरुक्षेत्र' किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार है या नहीं, इसकी जाँच के लिए हमें वर्णित विचारों को ही ले कर सोचना होगा कि वास्तव में यह एकता है या नहीं, और यदि है तो कैसी है।

दिनकर जी के विचारों के वाहक युधिष्ठिर और भीष्म हैं। पर यह ऊपर से ही दीखता है। युधिष्ठिर को निकाल देने पर भी विचारों की एकता कहीं छिन्न-भिन्न नहीं होती है। युधिष्ठिर विचार उठाते ही नहीं हैं। उनमें

केवल भावना का उद्वेग है। उनकी स्थिति प्रबन्ध में विचारों की एकता के लिए अनिवार्य नहीं है। पर यह तो हुआ प्रबंधत्व की पृष्ठभूमि में युधिष्ठिर की आवश्यकता।

पुनः ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क की विशेषता यह होती है कि वह किसी समस्या का ठोस समाधान देता है। क्या दिनकर जी ऐसा कर सके हैं? 'कुरुक्षेत्र' के कवि का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि जब तक संसार में सद्भावना, शांति, समता और न्याय की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक युद्ध अनिवार्य है। इस प्रसंग में श्री नंददुलारे वाजपेयी ने बड़ा ही समीचीन प्रश्न उठाया है : 'दिनकर जी कहते हैं कि जब तक संसार में शांति और सद्भाव नहीं हैं, तब तक युद्ध होंगे ही, होने ही चाहिए; पर दूसरी ओर प्रश्न यह भी है कि जब तक युद्ध होते रहेंगे, तब तक सद्भावना और शांति का विकास होगा कैसे? दिनकर जी कहते हैं लड़ते जाओ जब तक समता न हो, शान्ति न आये; पर प्रश्न यह है कि लड़ते रहने से शान्ति कैसे आयगी और समता कैसे होगी।'[१] दिनकर की युद्ध सम्बन्धी धारणा स्पष्ट और वैज्ञानिक नहीं है, प्रत्युत वह भावात्मक है। कवि ने युद्ध को वस्तून्मुखी न मान कर मानव बुद्धि से परे ठहराया है। यथा :

इच्छा नर की और फल देती उसे नियति है।
फलता विष पीयूष वृक्ष में अकथ-प्रकृति की गति है।

पुनः, कवि मानता है कि युद्ध पाप नहीं है क्योंकि वह ज्वलित प्रतिशोध से उत्पन्न है और ज्वलित प्रतिशोध कभी पाप नहीं हो सकता। अतः निष्कर्ष भी बुद्धि सम्मत और युक्तियुक्त नहीं है। चिंतन की असंगतियाँ इतनी ही नहीं हैं। कवि का संकेत यह भी है कि जब तक मानव समुदाय रूप में है, तब तक युद्ध रहेगा ही; क्योंकि त्याग, क्षमा, दया आदि वृत्तियाँ वैयक्तिक हैं, उनसे समाज को क्या लेना-देना है! परन्तु समाज तो व्यक्तियों से ही बनता है! अतएव व्यक्ति और समाज के धर्म एक दूसरे से नितांत भिन्न कैसे हो सकते हैं?

अतः हम श्री नंददुलारे वाजपेयी से सहमत हैं कि 'कुरुक्षेत्र में युद्ध सम्बन्धी आधुनिक वास्तविकता का यथेष्ट आकलन नहीं है, न उसमें युद्ध-विषयक नयी समाजवादी दृष्टि का ही पूरा निरूपण है।' वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' के कवि का

---

[१]आधुनिक साहित्य, नंददुलारे वाजपेयी।

हृदय शंकाकुल ही है। शंकाकुल हृदय का व्यक्ति प्रौढ़ और सुलझा हुआ चिंतन नहीं दे सकता है। शंका असंगतियों को भी जन्म देती है। अतः ऐसा काव्य 'किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार' नहीं हो सकता है। दिनकर के प्रशंसक आलोचक श्री शिवबालक राय ने भी स्वीकार किया है : 'मस्तक के स्तर चढ़ा हुआ कवि का शंकाकुल हृदय अनुभूति की गहराइयों में दूर तक नहीं झाँक पाता, और न दिमाग की बारीक गुत्थियों को आँख गड़ा कर देर तक देख पाता है। इसी लिए एक दृष्टि से कुरुक्षेत्र ऊपर-ऊपर का काव्य प्रतीत होता है। कहने को कहा जा सकता है कि गंभीर अनुभूति की अभिव्यंजना के लिए कवि ने कुरुक्षेत्र को नहीं चुना है, वह कुछ समस्याओं को प्रकट भर करना चाहता है।'[१]

इसके बावजूद 'कुरुक्षेत्र' हमें प्रभावित करता है। हमें वह प्रभावित करता है क्योंकि अपने युग के सत्य का वह अंशतः वाहक बन गया है। 'कुरुक्षेत्र' की सबसे अच्छी आलोचना श्री नंददुलारे वाजपेयी, नलिन विलोचन शर्मा और कामेश्वर शर्मा ने लिखी। परन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि अपनी सीमा को सबसे अधिक निष्पक्षता से दिनकर ने ही समझा। हम तो इस निबंध में केवल उन्हीं के अपने शब्दों का भाष्य भर कर सके हैं। उनके शब्द ये हैं—'...कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो, अन्ततः, एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तक के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है।'[२]

[१]साहित्य के सिद्धान्त और कुरुक्षेत्र, १८९।
[२]कुरुक्षेत्र, भूमिका।

कुरुक्षेत्र : प्रबन्ध-शिल्प : २

'कुरुक्षेत्र' की आलोचना शिल्प-विधि के धरातल पर केवल इस बात को ले कर हुई है कि उसकी प्रबन्धात्मकता सफल है या नहीं। इस बात को ले कर बड़ी विचिकित्सा की गयी है और सभी आलोचक एकमत नहीं हैं।

डॉ० शंभुनाथ पांडेय ने इसे प्रगतिवादी विचारधारा का महाकाव्य माना है।[१] ठीक इसके विपरीत डॉ० प्रतिपाल सिंह अपनी पुस्तक 'बीसवीं शती के महाकाव्य' में इसे महाकाव्य नहीं कहते हैं। डॉ० प्रतिपाल सिंह इसे खंडकाव्य ही मानते हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे एकार्थक काव्य मानते हैं। श्री रामानंद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महाकाव्यमंथन' में इसे महाकाव्य मान कर ही इस पर विचार किया है।

अवश्य ही 'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य या खंडकाव्य बनने के लिए प्रबंधकाव्य बनना पड़ेगा। दिनकर इसे प्रबन्धकाव्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं। महाकाव्यत्व का दावा उन्होंने कहीं नहीं किया है। उनके शब्दों में : 'मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु, तब यह रचना शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतर कर मुक्तक बन कर रह गयी होती।'[२] पर स्वयं दिनकर 'कुरुक्षेत्र' की प्रबन्धात्मकता की सीमा से वाकिफ हैं। वे लिखते हैं : 'कुरुक्षेत्र की प्रबन्धात्मकता उसमें वर्णित विचारों को ले कर है।'[३] यानी स्वयं कवि भी यह मानता है कि इस

[१]'आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद', ३८६, आगरा विश्व-विद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

[२]कुरुक्षेत्र, निवेदन, १।

[३]वही, २।

काव्य में प्रबन्धात्मकता कथानक के कारण नहीं, विचारों के तारतम्य के कारण है ।

'कुरुक्षेत्र' क्या, आधुनिक युग का कोई भी श्रेष्ठ प्रबंधकाव्य रूढ़िगत अर्थ में प्रबंधकाव्य नहीं है । आज कथानक घटनात्मक की अपेक्षा भावात्मक ही बन गया है । 'कामायनी' की प्रबंध-योजना भी पुराने निकष पर सफल नहीं उतरती है। सच तो यह है कि हिंदी में भाव-बन्ध की परम्परा की शुरुआत पंत के 'परिवर्तन' और प्रसाद के 'आँसू' से ही होती है । छायावादोत्तर युग में भाव-बन्ध का श्रेष्ठ उदाहरण डॉ० धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' और श्री रामसेवक चतुर्वेदी शास्त्री की 'मानस-मूर्च्छना' है। विचार और भाव अब स्थूल कथानक को चाट गये हैं। इसीलिए छायावाद युग के बाद भी जो प्रबंध-रचनाएँ लिखी गयीं, वे भाव-बन्ध न हो कर भी उसके समीप की चीज हैं ।

इसलिए 'कुरुक्षेत्र' की प्रबंध-योजना को भी हम पूर्वप्रचलित रूढ़ धारणाओं से नहीं माप सकते हैं । 'कुरुक्षेत्र' पारिभाषिक अर्थ में प्रबंधकाव्य नहीं है। पर यह भी स्पष्ट ही है कि उसमें प्रबंधात्मकता के कुछ तत्व अवश्य हैं । यों यह बात दूसरी है कि वे तत्व पर्याप्त पुष्ट नहीं हैं ।

'कुरुक्षेत्र' की प्रबंध-योजना भावगत ही है । प्रचलित अर्थ में उसमें न तो कथा का संयोजन है, न मार्मिक स्थलों की पहचान । चरित्रों का क्रमिक विकास भी 'कुरुक्षेत्र' में ढूंढना व्यर्थ है। घटनाएँ तो हैं ही नहीं। आज के कवि का मन वस्तुतः घटनाओं में रमता ही नहीं है । आज का कवि मन की गुत्थियों में अधिक उलझता है । घटनाओं की तफसील में उसकी वृत्ति रमती नहीं है । आज का कवि वर्णन कम करता है, विचार अधिक उठाता है। मानना होगा कि आज का कवि भरती का अंश बहुत कम देता है । वह छिलका देता ही नहीं है, देता है केवल बीज । प्रबंध-योजना में आमूल परिवर्तन का यही रहस्य है ।

'कुरुक्षेत्र' भी इसीलिए कथाबन्ध नहीं, भावबन्ध है । 'कुरुक्षेत्र' के पात्र कवि के विचारों को व्यक्त करने के लिए केवल उसके 'माउथपीस' हैं। वे मुख्य नहीं हैं । वे तो केवल एक स्थिति को व्यक्त करते हैं जिस पर कवि ने अपने चिंतन की दीवार उठायी है। 'कुरुक्षेत्र' की प्रबन्ध-योजना के प्रसंग में सबसे विचारणीय स्वयं कवि का अपना कथन है कि 'कुरुक्षेत्र की प्रबन्धात्मकता उसमें वर्णित विचारों को ले कर है ।' 'कुरुक्षेत्र' की मुख्य समस्या युद्ध की है । युद्ध के सम्बन्ध में कवि ने दो विचारधाराओं का उल्लेख किया है। एक

विचारधारा के वाहक युधिष्ठिर हैं जिसके अनुसार युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है तथा उससे अच्छा यह है कि आदमी भाग कर कहीं वन में चला जाय। लहू-सनी जीत अशुद्ध होती है। दूसरी विचारधारा के वाहक भीष्म हैं : इसके अनुसार ज्वलित प्रतिशोध पर खड़ा युद्ध पाप नहीं, बल्कि पुण्य होता है। इसका दायित्व उस पर होना चाहिए जो अनीतियों का जाल बिछा कर युद्ध को आमंत्रित करता है। केवल युद्ध की समस्या, इन दो विचारधाराओं का संघर्ष ही प्रबन्ध की एकता है। कवि ने महाभारत के भीष्म और युधिष्ठिर को इसलिए चुना है कि रचना प्रबंध ही रहे, मुक्तक न बने।

परन्तु इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि तब कुरुक्षेत्र की प्रबंध-योजना शिल्प का अनिवार्य और अविच्छिन्न अंश नहीं है। यदि यह बात ठीक है कि कवि को जो कुछ कहना था वह भीष्म और युधिष्ठिर का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, तो भीष्म और युधिष्ठिर ऊपर से आरोपित हैं। विचारों की शृंखला को उपस्थित करना मुक्तक की कोई विशेषता नहीं होती है। मुक्तक का कलेवर उतना दृढ़ नहीं होता है कि वह दो विचारधाओं को झेल सके। और यदि 'कुरुक्षेत्र' में दो विचारधाराओं का संघर्ष है तो वह मुक्तक में नहीं लिखा जा सकता था। यह सारी कठिनाई दिनकर के अपने कथन के कारण उत्पन्न हुई है। कवि जब आलोचक भी होता है तब कभी-कभी अपने पाठकों को उलझन में डाल देता है।

असलियत यह है कि कवि की हर बात उसके काव्य को समझने के लिए आवश्यक न मानी जानी चाहिए। उसके कथन का महत्व तो होता है, पर उसकी सीमा भी स्पष्ट ही है। आलोचक की प्रतिभा इस बात में है कि वह इस सीमा को समझे। दिनकर भीष्म और युधिष्ठिर का प्रसंग उठाये बिना अपनी बात कह ही नहीं सकते थे। उनकी शंका की पैदाइश का कारण यह है कि 'कुरुक्षेत्र' की प्रबंध-योजना में उन्हें कुछ शिथिलता दिखायी पड़ी। यह शंका 'कुरुक्षेत्र' के क्षेपकों को देख कर और भी दृढ़ होती है। प्रथम सर्ग का आरम्भिक अंश, पंचम सर्ग का आरम्भिक अंश, पूरा षष्ठ सर्ग और सप्तम सर्ग का आरम्भिक अंश—'कुरुक्षेत्र' जैसे लघु आकार-प्रकार के काव्य में इतने क्षेपक हैं। ये क्षेपक प्रबंध की अंतर्धारा को बाधित करते हैं, मोड़ देते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि रोमैंटिक कवि प्रबंध-योजना का श्रेष्ठ शिल्पी नहीं होता है, नहीं हो सकता है। 'कुरुक्षेत्र' के प्रबंध-शिल्प की विशृंखलता उसकी विचार-धारा की अनिवार्य प्रसूति है। इससे यही सिद्ध होता है कि अनुभूति के अनुकूल ही शिल्प भी अपना मार्ग ढूँढ निकालता है।

'कुरुक्षेत्र' के प्रबन्ध-शिल्प की विशृंखलता बाहरी नहीं है। उसमें आभ्यंतरिक सामंजस्य का अभाव है। हम इस बात के कायल हैं कि कवि का जीवनचरित उसकी कविताओं की ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायक सिद्ध होता है। यों इसका यह अर्थ नहीं होगा कि कवि की छींक का भी उसकी कविता से अपरिहार्य सम्बन्ध जोड़ा जाय। दिनकर के व्यक्तित्व में आभ्यंतरिक सामंजस्य का अभाव है। वह भीतर से खंडित हैं। उनका संकल्प-विकल्प किसी समाधान में शायद ही कभी परिणत होता हो। उनके आदर्शों का उनके चारित्र्य से कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वे द्विधा के ही कवि रह जाते हैं। 'कुरुक्षेत्र' का प्रबन्ध-शिल्प अपनी विशृंखलता में अपने रचयिता के व्यक्तित्व के अत्यंत ही समीप है।

इसी प्रसंग में महाकाव्यत्व वाली बात भी ढह जाती है। महाकाव्य का कैनवस बड़ा विराट होता है। महाकाव्य मोटा काव्य नहीं होता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण निरूपित किये गये हैं, वे भ्रामक हैं। महाकाव्य युग की आत्मा का पूर्ण प्रतिनिधि, संपूर्ण व्याख्याता होता है। 'कुरुक्षेत्र' की समस्या अपेक्षया सरल है। कवि ने एक ही प्रश्न को उठाया है। उसका लक्ष्य सीमित है। यह एक प्रश्न युद्ध है। यह युद्ध रोग नहीं, रोग का लक्षण मात्र है। इस सभ्यता का रोग अधिक गहरा है। दिनकर रोग का नाम भी नहीं जानते हैं। स्वयं दिनकर ने महाकाव्यों के सम्बन्ध में लिखा है : 'महाकाव्य तभी लिखा जाता है जब युग की अनेक विचारधाराएँ वेग से बहती हुई किसी महासमुद्र में मिलना चाहती हैं। जब ऐसी अनेक धाराएँ वेगवन्त प्रवाह में होती हैं तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है और जो कवि उनके महामिलन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है। महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भावनाओं के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास है, महाकाव्य की रचना समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है। जब परम्परा से आने वाले महान प्रश्नों और भावों की अनुभूति में परिवर्तन होता है तब मनुष्य का संस्कार भी परिवर्तित होने लगता है तथा इस परिवर्तित संस्कार को चित्रित करने के लिए ही महाकाव्य लिखे जाते हैं।'[१] संक्षेप में, महाकाव्य नये युग की समस्या, उसकी समग्र चेतना, उसके ताप, उसकी व्यथा एवं उसकी आशा का दर्पण होता है। महाकाव्य मनुष्य को मथने वाले प्रश्नों

---

[१] अर्धनारीश्वर, दिनकर।

का समाधान भावना के धरातल पर उपस्थित करता है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसा कुछ नहीं है। इसका स्थायी भाव निर्वेद और उत्साह है। पर इसका अभिव्यंजन एक सीमित समस्या को ले कर हुआ है। सभ्यता और संस्कृति के महाप्रवाह की इसमें कोई विराट झाँकी नहीं मिलती है। 'अनेक विचारधाराओं के वेग-वन्त प्रवाह' का कोई प्रश्न ही नहीं है। कवि समाधान के महासमुद्र तक नहीं पहुँच सका है। अतः 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य नहीं है।

श्री कान्तिमोहन शर्मा का सुझाव है कि इसे 'प्रबन्धाभास' कहा जाना चाहिए।[1] 'कुरुक्षेत्र' का प्रबन्धत्व बस इतना ही है।

●

[1] 'कुरुक्षेत्र-मीमांसा' में।

कोयला और कवित्व : १

•

इस संग्रह ही रचनाएँ आकृति में छोटी हैं, पर प्रकृति में बड़ी। यहाँ तक आ कर दिनकर उस उपलब्धि को पा सके हैं जहाँ प्रत्येक शब्द अभिव्यंजना के अर्थशास्त्र का चरम निदर्शन बन जाता है। प्रतिभाशाली कवि भाषा के अर्थ-शास्त्र का पंडित होता है और उसकी कविता का एक भी शब्द निष्प्रयोजन नहीं होता। अपनी प्रतिभा की खराद पर चढ़ कर वह शब्दों को पारदर्शी एवं दिव्य बना देता है जिसमें बहुत दूर तक का भाव दृष्टिगोचर होता है। 'कोयला और कवित्व' की अधिकांश कविताएँ अभिव्यंजना के इसी प्रकाश से जगमग हैं।

काल-चेतना

इस संग्रह की तीन कविताएँ अपनी विलक्षणता में एक अलग इकाई हैं। ये हैं—'ओ नदी !', 'नदी और पीपल', 'नदी और पेड़'। इन तीन कविताओं में कवि ने भावाभिव्यंजन के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। इनमें दो कवि-ताएँ—'ओ न दी !' और 'नदी और पीपल'—काल-चेतना को प्रकट करती हैं। यहाँ नदी काल के प्रवाह का प्रतीक है। सातत्य और प्रवाह, ये काल के गुण माने गये हैं। काल असीम है, व्यक्ति ससीम। काल की अनुभूति हमें सतत प्रवाह के रूप में होती है। काल की तुलना नदी और समुद्र से की जाती है। समुद्र बाहरी काल है किन्तु नदी भीतरी काल है। इलियट ने कहीं लिखा है कि हमारी शुरुआत में ही हमारा अन्त छिपा हुआ है। काल की यह व्याख्या व्यष्टिमूलक है। व्यष्टि अपने ही मापदंड से काल को मापती है, यद्यपि काल इससे बंधा हुआ नहीं है। यों भी काल के बिना हमारे अस्तित्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। दिनकर ने इन दो कविताओं में नदी को काल का

प्रतीक माना है। यह नदी हमारा भीतरी काल है। काल के एक क्षण में, उसकी एक तरंग पर, व्यक्ति ऊपर उठता है, समृद्धि, यश और सफलता के शिखर पर पहुँच जाता है। किन्तु काल बाहर निकल जाता है, उसे किसी से मोह नहीं होता है। यह काल निष्ठुर और निर्मोही होता है। काल से छूट जाने पर व्यक्ति अदना-सा जीव बन कर रह जाता है। किसी भी व्यक्ति की महत्ता काल के एक क्षण की महत्ता होती है। 'ओ नदी !' शीर्षक कविता में कवि ने अपनी इसी काल-चेतना को प्रस्तुत किया है।

'नदी और पीपल'

'नदी और पीपल' दिनकर के अत्याधुनिक भावबोध का एक विलक्षण उदाहरण है। कविता की शिल्प-विधि प्रतीकात्मक है, किन्तु यह प्रतीकात्मकता अनुभूति का अपरिहार्य अंश है। अत्यन्त वैयक्तिक प्रतीक-योजना के कारण कविता में कुछ दुर्बोधता का तत्व आ गया है। एक प्रतीकात्मक शिल्प-विधि में पुराण और जीवन का समवाय होने के कारण हमें अनायास ही डबल्यू० बी० यीट्स की याद आ जाती है। 'नदी' काल अथवा काल की चेतना का प्रतीक है। 'पीपल' उस व्यक्ति का प्रतीक है जो अपनी सभी कामनाओं, स्मृतियों और साहचर्यों की यादगारी से वलयित है। मनुष्य के सामर्थ्य की तुलना में काल की श्रेष्ठता दिखलाना ही दिनकर का 'विज़न' है। पहली पंक्ति के 'मैं' की व्याख्या सबसे दुर्बोध लगती है। निश्चय ही कवि को द्योतित नहीं करता है। कदाचित् यह किसी व्यक्ति का वाचक है। कहना न होगा कि यह दुर्बोधता आधुनिक कविता की उल्लेखनीय विशेषता है। इसीलिए इस कविता की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता आधुनिकता का भावबोध ही है। इन पंक्तियों की मुख्य अनुभूति :

> **खंडहरों के पास जो स्रोतस्विनी थी,**
> **अब नहीं वह शेष, केवल रेत भर है।**

गृह-पीर (नौस्टेल्जिया) ही है। 'स्रोतस्विनी' जीवनी शक्ति का प्रतीक है जो अब रेत भर रह गयी है। यही अनुभूति का वह संकट है जो काल के प्रभाव से संचालित मानवीय नियति से व्यक्ति को झेलना पड़ता है। स्रोतस्विनी के सूख जाने से मानव-जीवन की समग्र उपलब्धियाँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं :

दोपहर को रोज लू के साथ उड़ कर बालुका यह
व्याप्त हो जाती हवा-सी फैल कर सारे भवन में।
खिड़कियों पर, फर्श पर, मसिपात्र, पोथी, लेखनी में,

ये पंक्तियाँ बतलाती हैं कि किस प्रकार खिड़कियाँ, पोथी और लेखनी निष्प्राण हो गयी हैं। इसी को आवेग के उपयुक्त प्रतीक-योजना द्वारा अनुभूति की अत्यन्त ही कलात्मक अभिव्यक्ति कहते हैं। पुनः 'कलम की नोंक से फिर वर्ण कोई भी न उगता है' में काल के प्रवाह के गुजर जाने से उत्पन्न मानवीय विफलता की त्रासद अनुभूति चित्रित हुई है। और तो और, कलम भी अपना काम नहीं कर सकती है। यह इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य के ज्ञान और उसकी बुद्धि की तुलना में काल अत्यधिक सबल है। कवि के रूमानी हृदय में यह संचेतना अत्यन्त ही गहरी 'ट्रेजडी' को जन्म देती है। उसे कुछ गुस्सा होता है, कुछ घृणा और अरुचि, कुछ खीझ, तथा अन्ततः वह यों उबल पड़ता है :

कल्पना मल-मल दृगों को लाल कर लेती।
आँख की इस किरकिरी में दर्द कम ही हो भले,
पर, खीझ, बेचैनी, परेशानी बहुत है।

निम्नलिखित पंक्तियों में पुराने पीपल के प्रतीक का आश्रय ले कर व्यक्ति से सम्बन्धित अनंत साहचर्यों और स्मृतियों के कारण दुर्बोधता का तत्व आ जाता है :

किन्तु घर के पास का पीपल पुराना
आज भी पहले सरीखा ही हरा है।
गर्मियों में भी नहीं ये पेड़ शीतल सूखते हैं।

यह पुराना पीपल एक पवित्र आत्मा है जिसमें तरह-तरह की स्मृतियाँ, कामनाएँ, प्रेम, साहचर्य और सहानुभूति भरी हुई हैं। इसीलिए यह वृक्ष अब भी हरा है। और काल के प्रभाव से अछूता रह गया है। पीपल का यह पुराना पेड़ एक संत है जो कि म्रियमाण मनुष्यता की एक मात्र आशा है। यह सहानुभूति, प्रेम और स्नेह लुटाता है। बाद वाली पंक्तियों में तो, सायास ढंग से, चाक्षुष प्रतिरूप में, अनुभूति के उपयुक्त बिम्बों की योजना की गयी है :

पक्षियों का ग्राम केशों में बसाये
यह तपस्वी वृक्ष सबको छाँह का सुख बाँटता है।
छाँह यानी पेड़ की करुणा
सहेली स्निग्ध शीतल वारि की, कर्पूर चन्दन की।

'पक्षियों का ग्राम केशों में बसाये' बिम्ब की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती है। यह बिम्ब उच्च कोटि के काव्यात्मक और सौंदर्यशास्त्रीय सौष्ठव को प्रस्तुत करता है। भारतीय परम्परा में संत लंबे केशों वाला प्राणी होता है और कभी-कभी तो तपस्या की तन्मयता और लम्बी समाधि में उसके केशों के नीड़ों में अनेक पशु-पक्षी भी बसेरा ले लेते हैं। यह बिम्ब दिनकर की सरस्वती की प्रौढ़ कल्पना का परिचायक है और इससे यह प्रमाणित होता है कि अपनी अनुभूति के अनुकूल बिम्बों के सृजन की सहज शक्ति उनमें विद्‌यमान है। 'छाँह यानी पेड़ की करुणा' एक ऐसी पंक्ति है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। ऐसी अनुभूति यूरोप का एक कवि महसूस ही नहीं कर सकता है। दिनकर प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि की तरह अपने भूगोल और अपनी संस्कृति से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध हैं। विशुद्ध कविता का यह श्रेष्ठतम उदाहरण है।

कवि की दृष्टि में मानव जाति का एक मात्र रक्षक यही पुराना पीपल है। यही कारण है कि एक साधारण आदमी इस पीपल यानी संत की छाँह में जाता है तो एक ऐसे देश में पहुँच जाता है जहाँ केवल अनन्त साहचर्यों और स्मृतियों के अक्षय कोष हैं। हृदय के गहन, गुह्य लोकों से कितनी पुरानी अनुभूतियाँ, आवेग और वासनाएँ निःसृत होती हैं तथा इस साधारण आदमी की समग्र जीवन-दृष्टि धुँधली पड़ जाती है। पुनः इसे नयी दृष्टि मिलती है। इस महात्मा की महिमामय छाँह में इस साधारण आदमी का एक तरह पुनर्जन्म होता है।

कविता के अन्त में पुनः कवि अपनी मूल अनुभूति को अभिव्यक्त करता है और लगता है कि वह किंचित् दार्शनिक भंगी भी दे सका है। अन्तिम पंक्तियाँ शिल्प की दृष्टि से महान कविता का उदाहरण हैं :

टूट गिरते शीर्ण से दो पत्र,
मानो, वृद्ध तरु की आँख से आँसू चुए हों।

इन पंक्तियों का बिम्ब पाठकों के विज़न पर बड़ा ही मार्मिक प्रभाव छोड़ता है। यह बिम्ब संत के प्रतीक 'पीपल' के हृदय की पावनता

और करुणा को बड़ी विचक्षणता से प्रकट करता है। यह बिम्ब अत्यन्त ही स्वाभाविक है क्योंकि यह संत की उस विश्वजनीन करुणा को व्यक्त करता है जो वह अपने भक्तों पर अनवरत अप्रतिहत बरसाता रहता है। किन्तु यही संत काल के अंतिम प्रचंड आघात के सामने अपने को निस्सहाय पाता है। फिर वही निःसंगता की अनुभूति, फिर वही करुण ट्रेजडी :

> **फिर वही अनुभूति,**
> **नदियाँ स्नेह को भी एक दिन सिकता बना देतीं।**
> **सन्त, पर, करुणा - द्रवित आँसू बहाते हैं।**

काल सबसे मानवीय गुण प्रेम को खोखला बना देता है और यह संत अंत में काल के सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक चक्र में निष्ठुरता-पूर्वक कुचल दी जाने वाली मनुष्य की कामनाओं की विफलता पर करुणा के अश्रु बहाता है। संक्षेप में, इस कविता से यह संकेत मिलता है कि नये आयाम, नयी संभावनाओं को ले कर दिनकर का एक नया रूप उभर रहा है। यह कविता भाषा और शिल्प की प्रौढ़ता का सबूत है। दिनकर ने रूमानियत का केंचुल उतार फेंका है और उन्होंने बड़ी सफलता और विचक्षणता से आधुनिक भावबोध को आत्मसात कर लिया है। उन्होंने इस सत्य को हृदयंगम किया है कि रूमानी भावधारा अब आधुनिक मनुष्य की चेतना को आलोडित नहीं करती है। उन्होंने आधुनिक भावबोध के अनुरूप ही शब्दावली, शिल्प, बिम्ब, प्रतीक-विधान और गद्यवत सरलता पा ली है। इलियट के अनुसार गद्य और पद्य की भाषा की एकता साहित्य की प्राणवत्ता की निशानी है। इस कविता की भाषा प्राणवत्ता की इस कल्पना के अत्यन्त ही समीप है।

रुधिर-सिद्धान्त

'नदी और पेड़' भी इस संकलन की एक श्रेष्ठ कविता है, साथ ही प्रतीकात्मक भी। यह कविता भी दिनकर के अत्याधुनिक भाव-बोध का प्रमाण है। दिनकर अब अपनी कविताओं में बड़ी ही सहजता और विचक्षणता से अनुभूति को शिल्प की महिमा से मंडित कर पाते हैं। नदी युवती नारी का प्रतीक है और पेड़ वयस्क पुरुष का। नारी—विशेषकर युवती नारी—को देख कर वयस्क पुरुष में पहली भावना वासना की नहीं जगती है, प्रत्युत सेवा, करुणा और दया का भाव उमड़ता है :

क्या हुआ उस दिन ?
तुम्हें मैंने छुआ था
मात्र सेवाभाव से, करुणा, दया से।

किन्तु यह पहली प्रतिक्रिया देर तक नहीं ठहर पाती है। सोया हुआ पुरुष जग जाता है और भीतर कोई कविता सुगबुगाने लगती है। रूप यदि अप्रतिम होता है, तो उसका प्रभाव भी अमोघ होता है :

स्पर्श में, लेकिन, कहीं कोई सुधा की रागिनी है।
और त्वच के भी श्रवण हैं।

स्पर्श में सुधा की रागिनी का होना अनमोल है। नारी की महीन चमड़ी का स्पर्श पुरुष में जिन्दगी की नयी लहर उत्पन्न कर देता है। सुधा नया जीवन देती है। उसकी रागिनी की सार्थकता यही है। उसी प्रकार 'और त्वच के भी श्रवण हैं' प्रतीकवादी अभिव्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रतीकवादियों की एक पहचान यह है कि वे विलक्षणता उत्पन्न करने के लिए इन्द्रियों के सहज धर्म का व्यतिक्रम कर देते हैं। यथा, आँख का सुनना, कान का देखना, सुगंधि का आस्वादन करना—यह सब प्रतीकवादी अभिव्यंजना का कौशल है। सचमुच यह व्यतिक्रम बड़ा चमत्कार उत्पन्न करता है। 'उर्वशी' में भी इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है :

साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है,
सींचता हूँ, प्राण को इस गंध की भीनी लहर से
और अंगों की विभा की बीचियों से एक हो कर
मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ।

यहाँ वर्ण में गायन का भरा रहना, प्राण को गंध की लहर से सींचना, तथा रंग का संगीत सुनना प्रतीकवादी अभिव्यंजना का चमत्कार है। हिन्दी कविता की समृद्ध परम्परा में भी अभिव्यंजना का यह चमत्कार विरल है।

पुनः कवि स्पर्श से उत्पन्न सुख का मोदक वर्णन करता है। दिनकर जीवन की ऊष्मा के कवि हैं। वे मानते हैं कि हम त्वचा और रुधिर की पुकार से उद्वेलित होते हैं। यह रुधिर ही हमारा जीवन है। इसीलिए हम इसी से चालित होते हैं :

स्पर्श का झंकारमय यह गीत सुनते ही
त्वचा की नींद उड़ जाती;
लहू की धार में किरणें कनक की झिलमिलाती हैं।

त्वचा की नींद उड़ जाना तो दिनकर की अपनी शब्दावली है। स्पर्श से त्वचा को स्फूर्ति मिलती है, इसका कथ्य यही है। पुनः लहू की धार में कनक की किरणों का झिलमिलाना तो स्पर्श से उत्पन्न फुरफुरी का वर्णन है। वासना की झिलमिलाहट के लिए वे 'कनक की किरणें' का बिम्ब देते हैं।

यह वृक्ष कदाचित् ऐसा पुरुष है जिसके जीवन में यौवन की बाढ़ उतर गयी है। यह युवती नारी की ओर निहारता है, पर पहली बार मात्र सेवा-भाव से, करुणा, दया से। किन्तु स्पर्श का स्वाद मिलते ही सेवा की भावना तिरोहित हो जाती है। उसके हृदय में रुधिर की हलचल होने लगती है। उस नदी या युवती नारी के स्पर्श से फिर इसकी जवानी जग जाती है और हरियाली चारों ओर से इसे घेर कर खड़ी हो जाती है :

तीर पर सूखा खड़ा यह वृक्ष अकुलाने लगा फिर,
स्पर्श की संजीवनी, हरियालियों के ज्वार से।

दिनकर जानते हैं कि युवती नारी के स्पर्श से मुर्दे में जिंदगी की हलचल होने लगती है। जीवन का उपेक्षित पक्ष जब जोर मारता है तब संन्यासी का काषाय फट जाया करता है। आज भी मनुष्य की जैविक पुकार संस्कृति को रौंद डालती है। रुधिर जब उफनता है, तब सभ्यता की बनावटी परत टूटने लगती है। दिनकर लिखते हैं :

खिल पड़े सहसा जुही के फूल सेवा के हृदय में,
शुभ्र सित आनन दया का लाल हो आया।
और गैरिक चीर करुणा के सुशीतल, शान्त तन का,
रँग गया आखिर गुलाबी रंग में।

रुधिर के ज्वार सेवा भरे हृदय में जुही का फूल खिला देते हैं, ममतापूर्ण चेहरे पर अनुराग की लाली दौड़ जाती है, और गैरिक परिधान भी अन्ततः गुलाबी हो जाता है।

यह रुधिर ही तो हमारा जीवन है। बुद्धि की निष्प्राणता की तुलना में रुधिर की संजीवनी अनमोल होती है। प्राण की क्लान्ति को रुधिर का ज्वार

बहा देता है। यह पेड़ नदी के स्पर्श से बंधनों से मुक्त हो गया, इसकी जड़ता टूट गयी। उसे लगा कि उसका पुनर्जन्म हुआ है। दिनकर लॉरेन्स की ही तरह यह मानते हैं कि नारी में नर और नर में नारी के डूबने से एक प्रकार का पुनर्जन्म ही होता है। यथा :

फिर लगा ऐसा कि मेरे बन्ध सारे खुल गये हैं
और मिट्टी से उखड़ मैं भूमि पर चलने लगा हूँ;
या नदी खुद ही बताये राह लेती जा रही है
उँगलियाँ पकड़े हुए बेहोश, संज्ञाहीन तरु को
तीर से नीचे सलिल की धार में।

पुरुष का जीवन ऊपर होता है। नारी उसमें स्रोतास्विनी की तरह आती है। 'तीर' पुरुष की शुष्कता का प्रतीक है, धार नारी की सरसता का जिसके स्पर्श से पुरुष मनुष्य में रूपान्तरित हो जाता है।

किन्तु बेमौसम का प्रेम तो हँसी की चीज है। जवानी उतर जाने के बाद किया गया प्रेम मन की लिप्सा है। नारी तो पुरुष की दुर्वलता में रस लेती है :

सोच कर क्या बात मन में हँस पड़ी तुम ?
मैं न जानें देख क्या सकुचा गया।
एक पीला पत्र धारा में बहा कर
वृक्ष फिर अपनी जगह पर आ गया।

नारी की हँसी पुरुष के मर्म को बेध डालती है। यह पेड़ एक पीला पत्ता धारा में बहा कर अपनी जगह लौट आता है। पर एक क्षण की इस अनुभूति को कभी भुला नहीं पाता है। यह एक क्षण की अनुभूति उस वृक्ष के जीवन का सर्वस्व बन जाती है। इस अनुभूति को वह प्रेरणा का स्रोत बना लेता है। बुढ़ापे का प्रेम शरीर के धरातल पर नहीं उतरना चाहिए। उसकी सार्थकता तो इस बात में है कि इससे हृदय की रंगीनी बनी रहती है।

चूँकि दिनकर जीवन की ऊष्मा के कवि हैं, इसलिए रुधिर के ताप को पहचानते हैं। 'कोयला और कवित्व' में रुधिर की यह ऊष्मा हम महसूस करते हैं। दिनकर ने केवल रुधिर सम्बन्धी बिम्ब का प्रयोग आठ बार किया है। यथा :

(१) रक्त में कोई नयी कल्लोलिनी घर कर गयी है ।
(२) लहू की धार में किरणें कनक की झिलमिलाती हैं ।
(३) नाव-सी खेने लगा कोई रुधिर में ।
(४) जो भी करो उपाय नहीं रुकता है ज्वार रुधिर का
(५) खिलने-सा कुछ लगा रुधिर में ।
(६) दृष्टि मात्र से भर देतीं झंकार रुधिर में
(७) लहू में छन्द है ।
(८) शिरा-शिरा में धार रुधिर की छन जाती है ।

यह रुधिर है, जो हमारा जीवन है, हमारा छन्द है ।

कुछ अन्य कविताएँ

'कोयला और कवित्व' की कुछ कविताएँ अपनी लघुता में विराट हैं । अभि-व्यंजना की संक्षिप्ति के वे चरम निदर्शन हैं । 'बादलों की फटन' एक ऐसी ही कविता है । यह शुद्ध रूमानी कविता नहीं है, हालाँकि इसका लहजा रूमानी है । इसकी रूमानियत आमुष्मिकता की अनुभूति में रूपान्तरित हो गयी है । इसमें निरुद्देश्य आनंद की सुनहली झिलमिलाहट है । कवि ने एक ऐसे फ़ैंटेसी की रचना की है जिसकी शुरुआत निरुद्देश्य आनंद से हुई है और अन्त दार्शनिक भंगी में । 'हमदर्दी' में हमारी सांस्कृतिक क्षयिष्णुता का अद्‌भुत चित्रण है । आज के आदमी ने नकाब पहन ली है । उसकी हमदर्दी, उसकी मुसकान, उसका प्रेम सब नकली है । 'कांस्य प्रतिमा' हमारी ईर्ष्या का आख्यान है । 'आँसू' का प्रारम्भ जितना प्रभावशाली, परिसमाप्ति उतनी ही कमजोर है । करुणा का कवित्व अपने आप में एक उपलब्धि है । व्यर्थ ही कवि ने उस पर उपदेश और आशावाद का मुलम्मा चढ़ा दिया है । इससे एक अच्छी कविता का जायका बिगड़ गया है । 'कोयला और कवित्व' शीर्षक अंतिम पर सबसे लम्बी रचना में निष्काम कर्म के दार्शनिक चिंतन को कवि ने बड़ी सफलता से बिम्बों के द्वारा कवित्व की महिमा से मंडित कर दिया है । ये सभी कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि सरस्वती जब पूर्णता पर पहुँचती है तब संक्षिप्ति की गरिमा से मंडित हो जाती है ।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का अतिशायी होना

श्रेष्ठ कविता की एक पहचान यह है कि उसमें वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ अतिशायी होता है । कोश के शब्द निष्प्राण और निर्जीव होते हैं । उनमें

जिन्दगी की हलचल कवि की जीवंत अनुभूतियों के ताप से आती है। इसी से कविता में आये शब्द से वे अर्थ भी द्योतित होने लगते हैं जो सामान्यतया उनमें वास नहीं करते हैं। इसी लिए एक नया कवि जब कोई पुराना भाव भी उठाता है, पुरानी उपमा का भी प्रयोग करता है, तब वह उसे नयी दीप्ति से भर देता है। इसकी शर्त एक ही है कि वह कवि प्रतिभाशाली हो। प्रतिभाशाली कवि पुरानापन चाट जाता है। इस संग्रह की कविता 'ओ नहीं!' की चर्चा हम कर चुके हैं। इसकी एक पंक्ति है: 'कौंधती रशना कमर में मछलियों की।' कदाचित् इस बिम्ब का पहला प्रयोग वाल्मीकि ने किया है। फिर भी दिनकर इसका पुरानापन चाट गये हैं। 'कौंधती' क्रिया अत्यन्त ही व्यंजक है। यों इसका वाच्यार्थ तो 'चमकना' होता है। पर इसकी व्यंजना अपूर्व है। सुन्दर मछलियाँ जल के अंतस्तल से निकल कर ऊपर सतह पर आती हैं, पुनः गहरे जल में पैठ जाती हैं। यह क्रम इसी प्रकार एक नियमित अनियमितता से चला करता है। 'कौंधती' इस बात को कितनी कलात्मकता से व्यक्त करती है! 'चमकना' शब्द इसी भाव को नहीं व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार 'नदी और पीपल' की एक पंक्ति है: 'और तब बादल हृदय के कूप से बाहर निकल कर दृष्टि के पथ को उमड़ कर घेर लेते हैं।' भावविह्वलता का यह विलक्षण चित्रण है। बादल का हृदय के कूप से बाहर निकलना पीड़ा भरी पुरानी स्मृतियों का जग जाना है। हृदय रिसता है पर बरसती हैं आँखें। यह बादल शब्द 'वारिद' से व्युत्पन्न है। 'वारिद' यानी पानी देने वाला। इसलिए कुछ अजब नहीं कि ये 'दृष्टि के पथ को उमड़ कर घेर लेते हैं।' जब दृष्टि का पथ बादलों से घिर जाय तभी तो:

टूट गिरते शीर्ष से दो पत्र,
मानो वृद्ध तरु की आँख से आँसू चुए हों।

यहाँ चमत्कार केवल उत्प्रेक्षा का नहीं है। बेचारा बूढ़ा पेड़ आँसू बहा रहा है। किस प्रकार कवि की प्रतिभा ने जड़ प्रकृति को भी सजीव बना दिया है। इसी प्रकार फुनगी उठा कर लता का वातायन पर से झाँकना सजीवता की पराकाष्ठा है। उसी तरह गिलहरियों के उछलने से तरु को गुदगुदी लगना अनमोल है। जब तरु को भी गुदगुदी लगती है तब बेचारा मनुष्य तो चेतन है। वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशायी हुआ या नहीं? दिनकर की परवर्ती कविताओं में सामाजिक पक्ष इतनी ही कलात्मक उपलब्धि के धरातल पर पहुँच सका है।

बिम्ब-योजना

'कोयला और कवित्व' की बिम्ब-योजना प्रभावशाली है। दिनकर की भाषा केवल बिम्बों की भाषा बन गयी है। किसी भी कवि की अनुभूति की भाषा में कैद करने के लिए बड़ी तपस्या करनी पड़ती है। अनुभूति को व्यक्त करने के लिए वस्तुगत प्रतिरूप शब्द हैं। दिनकर इसी बात को कितनी अच्छी तरह कह गये हैं : 'छन्दों का ले जाल घात में सदा लगा रहता हूँ।' जैसे शिकारी या मछुआ जाल ले कर घात में बैठा रहता है, उसी प्रकार एक कवि भी भाव को भाषा में बाँधने के लिए टक लगाये रहता है। आधुनिक कवियों में दिनकर ने ग्रंथ, कविता, पृष्ठ और छन्द सम्बन्धी बिम्बों का सबसे अधिक उपयोग किया है। यह 'कुरुक्षेत्र' में भी है, उर्वशी में भी। यथा :

> **वपु तो केवल ग्रन्थ मात्र है, क्या हो काय-मिलन से ?**
> **तन पर जिसे प्रेम लिखता, कविता आती वह मन से। (—उर्वशी)**

यह विशिष्टता इस संग्रह की कविताओं में भी है। दिनकर छन्दों के पारखी हैं। उनकी सीमा और सामर्थ्य अच्छी तरह समझते हैं। पुरानी कविता में प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वे दोहा छन्द का सादृश्य लाते हैं। दोहे के प्रभाव की तरह पुराने काव्य में प्रेम का घाव नपा-तुला ही होता है :

> **चर्म को न छीलता, न छाँटता है।**
> **काम का पुराना बाण,**
> **गोदता नहीं है प्राण,**
> **दोहों के समान नपे-तुले व्रण काटता है।**

उसी प्रकार पुराने काम-काज की तेजी को रोला और छप्पय छन्द से स्पष्ट करते हैं।

पद्य-कौशल

पद्य-कौशल की दृष्टि से भी दिनकर अपनी ही सीमा का अतिक्रमण कर सके हैं। स्वच्छन्द छन्द यहाँ खूब निखरा है। यह स्वच्छन्दता निर्बंध नहीं है। बीच-बीच में छन्द कछुए की तरह अपनी गरदन सिकोड़ लेता है, परम्परा के नजदीक आ जाता है, उसकी ज्योति से अपने को उद्भासित कर पुनः स्वच्छन्दता को प्राप्त कर लेता है। परम्परा ने दिनकर के पद्य-कौशल को तेजस्विता ही प्रदान की है। यहीं इलियट की यह बात ठीक जँचती है कि मौलिकता का अर्थ

परम्परा का अंधानुकरण नहीं होता है, बल्कि उसके आगे अपने को जोड़ देना है। पुरानी और नयी कविताओं, 'ओ नदी !', 'नदी और पीपल' और 'नदी और पेड़' आदि कविताओं की छान्दस्-विशिष्टता इसी कोटि की है। 'कोयला और कवित्व' के पद्य-कौशल की दूसरी विशेषता कोष्ठकों (पैरेन्थेसिस) का प्रयोग है। इनका प्रयोग कविताओं में अनुभूति की तीव्रता लाता है। कभी यह मार्मिकता को बढ़ा देता है, कभी व्यंग्य को ज्योतित कर देता है। इसके कई उत्कृष्ट उदाहरण 'कोयला और कवित्व' में मिलते हैं। यथा :

> **सबसे पहले दर्पण में निज को देखा करता हूँ।**
> **इस विचार से नहीं कि मेरा मुख सबसे सुन्दर है।**
> **(अब सौन्दर्य कहाँ ? आँखों के पास मेघ छाये हैं;**
> **गालों पर गंगा-यमुना के स्रोत निकल आये हैं।)**

कवि को इस बात की आभ्यंतरिक पीड़ा है कि स्थविरता ने उसके स्वरूप को धुँधला दिया है। पीड़ा की यह अनुभूति कोष्ठक से और गाढ़ी हो उठी है। इसी प्रकार इसी 'दिनचर्या' कविता में हमारे सामाजिक जीवन के खोखलेपन की पीड़ा से कवि कहता है :

'छिप कर चलता सत्य (उसी को हाय सभी से भय है)।' कोष्ठक ने इस पीड़ा को गहरी बना दिया। कहीं-कहीं दिनकर जी कोष्ठक का सहारा ले कर तीखा व्यंग्य करते हैं। यथा :

> **सो बज दूँगा, मौका गर मिल गया उधर आने का,**
> **आप सरीखे काव्य-प्रेमियों का दर्शन पाने का।**
> **(काव्य-प्रेम के ये मतवाले बड़े दिव्य होते हैं।**
> **ले जाने के समय आप के पाँव तलक धोते हैं।**
> **किन्तु लौटते समय आप इनको अद्भुत पायेंगे,**
> **'आटोग्राफ' भले माँगे, पर कार नहीं लायेंगे।)**

कवि-सम्मेलन के भुक्तभोगी इस व्यंग्य की मार्मिकता को समझ सकते हैं। इसी प्रकार और भी कई जगह कोष्ठक का प्रयोग दिनकर जी अच्छी तरह कर सके हैं।

पद्य-कौशल की तीसरी विशेषता पंक्तियों के बीच का पूर्ण-विराम है। हिन्दी कविता की समृद्ध परम्परा में भी इसका नितान्त अभाव खटकता है। हिन्दी कविता में कदाचित् इसका पहला प्रयोग प्रसाद जी ने किया था।

किन्तु प्रसाद जी इसका पथ आगे प्रशस्त न कर सके। 'कामायनी' जैसे काव्य में इसका एक भी उदाहरण नहीं मिलता है। निराला में इसका प्रचुर प्रयोग है। 'एण्ड स्टाप' सचमुच एक यांत्रिक जकड़बन्दी है। हमारी यथार्थ मनोवृत्ति से इसका सम्बन्ध नहीं है। यह हमारे मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं है। नयी कविता में इस पद्य-कौशल को व्यापक विस्तार मिला है। दिनकर जी पद्य-कौशल की इस उल्लेखनीय यथार्थवादी कला को आत्मसात कर सके हैं यथा :

सब निसर्ग वर्जित हैं पशु को। यह क्या कभी सुना है,

अथवा

कोई उत्तर नहीं। मात्र विस्मित हो रह जाना है।

संक्षेप में, भाव, भाषा, प्रतीक, आधुनिकता का भावबोध—सभी दृष्टियों से 'कोयला और कवित्व' एक नये दिनकर का संकेत देता है। कवि के रूप में यहाँ दिनकर का पुनर्जन्म हुआ है। दिनकर बड़ी सफलता से आधुनिक भाव-बोध को आत्मसात कर सके हैं। यह संग्रह इस बात का सबूत है कि कवि के रूप में दिनकर न केवल पूरी प्रखरता से जी रहे हैं, प्रत्युत उनकी कविता-गंगा और भी निर्मल हो गयी है। दिनकर जी के अब तक के काव्य-संकलनों में यह सर्वश्रेष्ठ माना जायगा।

कोयला और कवित्व : २

न्यूटनीय विज्ञान की यह मान्यता थी कि गणित के जिन नियमों से हम मनुष्य के बनाये हुए यंत्रों को समझते हैं, उन्हीं नियमों से सृष्टि की सारी प्रक्रियाएँ भी समझी जा सकती हैं। न्यूटन का अनुसरण करने वाले वैज्ञानिक के लिए यह विश्वास फीटिश हो गया था कि सृष्टि की सभी घटनाएँ कारण-कार्य की शृंखला से आबद्ध हैं और यदि परमेश्वर का कोई अस्तित्व है तो वह सृष्टि का सबसे बड़ा गणितज्ञ होगा। वैज्ञानिकों का यह विश्वास जड़ विश्व तक ही सीमित होता तो एक बात थी। किंतु विडंबना तो यह थी कि ये वैज्ञानिक यह मानते थे कि मनुष्य भी यांत्रिक नियमों से परिचालित होता है और उसके अतीत के अध्ययन से उसके भविष्य को बतलाया जा सकता है। विज्ञान में यह मत नियतिवाद (determinism) के नाम से प्रचलित हुआ। इसका सीधा परिणाम इस विश्वास को गढ़ने में सहायक सिद्ध हुआ कि मनुष्य भी पेड़, पौधे, समुद्र या पहाड़ की तरह कारण-कार्य नियम के अपवाद नहीं हैं। न्यूटनीय विज्ञान से उत्पन्न इस विश्वास ने आधुनिक चिंताधारा पर प्रभाव डाला और डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लायबनिज़, लॉक, ह्यूम, काण्ट, हीगेल, अलेग्ज़ेंडर और मिल—ये सभी विचारक इस नियतिवाद में विश्वास करते थे। इस नियतिवादी दृष्टिकोण को डार्विन के विकासवाद से बल मिला। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान ने बाह्य विश्व को ही पूर्ण सत्य मान लिया।

कारण-कार्य की गंगा में शैवाल

इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि धर्म के सिंहासन से ईश्वर अपदस्थ हो गया। मनुष्य मानने लगा कि विश्व एक ही है और वह बाह्य है। यह धारणा

इतनी बद्धमूल हो गयी कि मनुष्य ने अपने ज्ञान पर शंका करना छोड़ दिया और अपने ज्ञान को वह पूर्ण मानने लगा। किन्तु १८९० ई० के बाद विज्ञान में जो नये अनुसंधान हुए उनसे कारण-कार्य के सिद्धांत को धक्का लगा और नियतिवाद की नींव हिलने लगी। जब तक द्रव्य का लघुतम रूप परमाणु था, तब तक तो न्यूटनीय विज्ञान से उत्पन्न कारण-कार्य का सिद्धांत ठीक ही था। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ कि परमाणु भी अपने आप में पूर्ण नहीं है। उसके भीतर भी विद्युत-आवेशित कण हैं जो आकार में परमाणु से भी दो हजार गुना छोटे होते हैं। ये ही कण इलेक्ट्रोन हैं। इसके बाद वैज्ञानिकों ने यह भी देखा कि परमाणु तो पिंड था, उसी से उत्पन्न इलेक्ट्रोन पिंड नहीं हैं; वे केवल विद्‌युत हैं, केवल शक्ति हैं और यह देख कर उन्हें अवाक रह जाना पड़ा। अब तक वे यह मानते चले आ रहे थे कि ठोस चीरने पर ठोस ही निकलता है। किन्तु इलेक्ट्रोन के आविष्कार ने उनके इस विश्वास को हिला दिया और कारण-कार्य का सिद्धांत भी पूर्ण सत्य नहीं लगने लगा।

इस कारण-कार्य सिद्धांत को दूसरा जबरदस्त धक्का आइंस्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धांत से भी लगा। किंतु आइंस्टीन का सापेक्षवाद भौतिकी के क्षेत्र में एक ऐसी क्रांति है जो आँधी की तरह एकाएक नहीं आयी थी। उसके लिए पहले से ही वायुमंडल तप्त हो रहा था और मेघ-खंड आपस में टकराने लगे थे। अमरीका के वैज्ञानिक माइक्लेसन ने यह पता लगाया था कि पृथ्वी चाहे प्रकाश की ओर जाती हो अथवा उससे समकोण राह पर, किंतु दोनों ही अवस्थाओं में पृथ्वी पर आने वाले प्रकाश की गति एक समान रहती है। उस समय लार्ड केलविन ने यह ठीक ही विश्लेषण किया कि माइक्लेसन का यह आविष्कार न्यूटन के गति-सिद्धान्त के विपरीत पड़ता है। यह तो अत्यंत मोटी बात है कि पृथ्वी यदि पूरब से पश्चिम को घूम रही हो, तो प्रकाश की गति अधिक तीव्र दिखायी देनी चाहिए। लार्ड केलविन की शंका का समाधान तब हुआ जब १९०५ ई० में आइंस्टीन ने सापेक्षवाद पर अपना पहला निबंध प्रकाशित करवाया और यह स्थापना रखी कि विश्व में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। अतएव चलायमान वस्तुएँ यदि अन्य गतिशील वस्तुओं की गति मापना चाहेंगी तो प्रत्येक का माप-फल एक ही नहीं होगा। यानी सभी गतियाँ सापेक्ष हैं। आइंस्टीन का यह मत तो एक आनुषंगिक परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम यह है कि अब विज्ञान उस चोटी

पर पहुँच गया जहाँ उसके आस-पास अखंड आस्था का सूर्योज्ज्वल प्रकाश नहीं, बल्कि शंका के मेघ मँडलाते रहते हैं।

अवश्य ही इस शंका की पैदाइश इलेक्ट्रोन की स्वेच्छाचारिता से हुई। रेडियम के भीतर जो परमाणु होते हैं, उनमें से कुछ परमाणु आप ही आप विघटित होते रहते हैं। यह विघटन क्यों होता है, विज्ञान इसका उत्तर नहीं जानता है। वह यह भी नहीं बता सकता है कि यह विघटन कब होगा ? दस दिन बाद या दो हजार वर्ष बाद ? विज्ञान का दर्प यहीं से चूर होने लगा। कारण-कार्य का सिद्धांत इलेक्ट्रोन के विश्लेषण में असमर्थ प्रमाणित हुआ। आइंस्टीन और मैक्स प्लैंक ने यह आशा व्यक्त की कि यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रहेगी और नियतिवाद फिर से प्रतिष्ठित हो जायगा। किन्तु एडिंग्टन आदि वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि नियतिवाद विज्ञान में अब फिर कभी नहीं आयगा।

गूढ़ दर्शन का समुद्र

'कोयला और कवित्व' की 'विज्ञान' शीर्षक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में दिनकर आधुनिक भौतिकी के इसी मंथन का काव्यात्मक रूपान्तर उपस्थित कर रहे हैं :

> शंका करने लगे स्वयं पर, यह क्या कम है ?
> आगे है जो लक्ष्य, तुम्हारे शर से विद्ध न होगा।
> जो कुछ था नापने योग्य, नप चुका गणित से;
> किन्तु गणित के फरमूलों से ईश्वर सिद्ध न होगा।[१]

यह नयी भौतिकी का आध्यात्मिक 'टेम्पर' है। विज्ञान से जड़ता का युग समाप्त हो गया है। भौतिकी के अनुसंधानों ने विज्ञान को एक नये लोक में पहुँचा दिया है। यह लोक विज्ञान की नूतन दार्शनक प्रवृत्तियों का लोक है। इस संकलन की 'भौतिकी' कविता में दिनकर पूछते हैं—

> बहुत उच्च वह शिखर साधिके ! तुम अब जहाँ खड़ी हो।
> उझको तो आगे समीप ही सिन्धु दिखायी देगा
> आत्मदर्शियों के चिंतन का गहन, गूढ़ दर्शन का।[२]

---

[१]कोयला और कवित्व, ३८।

[२]वही, ३६।

यही 'मेटैफ़िज़िकल टेम्पर ऑफ़ मॉडर्न फ़िज़िक्स' हैं। स्वयं दिनकर लिखते हैं : 'अभिनव विज्ञान ने सृष्टि-विषयक जिस नवीन कल्पना को जन्म लेने की छूट दे दी है, उसमें केवल गणितज्ञ ही नहीं, रहस्यवादी संत और कलाकार भी रह सकते हैं।'[१]

ठोस में अ-ठोस

कभी विज्ञान में अणु को ही पदार्थ का अन्तिम अविभाज्य अंश माना जाता था और लोग उसे ठोस मानते थे। तब डॉल्टन ने यह पता लगाया कि द्रव्य का सबसे छोटा भाग अणु नहीं, परमाणु (एटम) है। विज्ञान अब इसी परमाणु को ठोस मानने लगा। किन्तु बाद के अनुसंधानों से यह पता लगा कि परमाणु ठोस नहीं, पोला है और उसके नाभिक (न्यूक्लियस) के चारों ओर इलेक्ट्रोन और प्रोटोन नाच रहे हैं। यानी परमाणु को चीरने पर द्रव्य, पूरा का पूरा विलुप्त हो गया और यह बात प्रमाणित हो गयी कि जो ठोस पदार्थ हमें दिखायी देता है, वह ठोस नहीं, प्रत्युत वायवीय है। साथ ही वैज्ञानिकों ने यह भी समझा कि इलेक्ट्रोन पिंड है ही नहीं, वे केवल विद्युत हैं, केवल शक्ति हैं। निष्कर्ष यह कि संसार में कुछ भी ठोस नहीं है। वस्तुओं का यह ठोसपन दर्शन की भाषा में माया ही है। ठोस वस्तुओं का चरम सत्य अ-ठोस है। 'भौतिकी' शीर्षक कविता में दिनकर अत्याधुनिक भौतिकी के इसी रूप का विश्लेषण इन शब्दों में उपस्थित करते हैं :

अणु था ठोस, भूतमय जग था, मायावाद मृषा था ?
पर अब तो परमाणु तोड़ कर तुमने देख लिया है
कहो नहीं कुछ ठोस, सभी कुछ माया है, छलना है;
कहो उसे ऊर्जा, तरंग या विकिरण किसी प्रभा का।[२]

अवश्य ही विश्व के प्रति आधुनिक कवि का यह दृष्टिकोण परमाणु को चीरने से उत्पन्न हुआ है। भौतिकी के इस आध्यात्मिक स्वर की पहली गूँज दिनकर की 'उर्वशी' में ही सुनायी पड़ी। 'उर्वशी' में भी एक जगह ठोस की शून्यता का आख्यान मिलता है :

---

[१] **धर्म, नैतिकता और विज्ञान**, ७२।

[२] **कोयला और कवित्व**, ३६।

सब है शून्य, कहीं कोई निश्चित आकार नहीं है,
क्षण-क्षण सब कुछ बदल रहा है परिवर्तन के क्रम में ।
धूमयोनि ही नहीं, ठोस यह पर्वत भी छाया है,
यह भी कभी शून्य अम्बर था, और अचेत अभी भी,
नये-नये आकारों में क्षण-क्षण यह समा रहा है;
स्यात्, कभी मिल ही जाये, क्या पता, अनन्त गगन में ।[१]

'उर्वशी' से उद्धृत इन पंक्तियों की कोई भी संतोषप्रद व्याख्या इलेक्ट्रोन की महिमा को समझे बिना नहीं हो सकती है । 'हमारे दृश्य जगत की सभी क्रियाएँ मात्र फ़ोटोन और द्रव्य अथवा भूत की क्रियाएँ हैं तथा इन क्रियाओं का एक मात्र मंच देश और काल है । इसी देश और काल ने दीवार बन कर हमें घेर रखा है । वास्तविकता के जो बिम्ब हम इन दीवारों पर देखते हैं, वे ही भूत के कण और उनकी लीलाएँ हैं, असल में, जिस वास्तविकता की छाया इन दीवारों पर पड़ रही है, वह स्वयं देश और काल से परे हैं ।'[२] आधुनिक भौतिकी के इसी 'मेटैफ़िज़िकल टेम्पर' को आत्मसात कर दिनकर पूछते हैं :

तुम जिस पर लिख रहे, दृश्य वह जगत बिम्ब है;
पर छाया जिसकी यह, वह असली दीवार कहाँ है ?
मान लिया, तुम देश-काल तक पहुँच गये हो,
पर दोनों से परे, गहनता का संसार कहाँ है ?[३]

विज्ञान का जब आगमन हुआ तब उसने पहला आक्रमण आस्तिकता के दुर्ग पर ही किया । शंका, संदेह और परीक्षण ने नास्तिकता को जन्म दिया और उन्नीसवीं शताब्दी में यह घोषणा कर दी गयी कि ईश्वर मर गया । किन्तु जब आइंस्टीन, एडिंग्टन और सर जेन्स जीम्स आये, तब पुनः ईश्वर की लाश में चेतना की सुगबुगाहट आने लग गयी । या ईश्वर मरा ही नहीं था । वह निद्रा में था और अब पुनः जगने लग गया । इसीलिए नये युग का कवि पूछ सका है कि 'दोनों से परे' गहनता का संसार कहाँ है ?'

'सर जेम्स जीन्स ने लिखा है कि वास्तविक विश्व की कल्पना हम एक अगाध नदी के रूप में कर सकते हैं । हमारा दृश्य जगत उस नदी की ऊपरी

---

[१]उर्वशी, ८१ ।
[२]धर्म, नैतिकता और विज्ञान, ६५ ।
[३]कोयला और कवित्व, ३८ ।

सतह के समान है जिसके नीचे की चीजें हमें दिखायी नहीं देतीं। इस नदी के अगाध जल में जो घटनाएँ घटती हैं उनसे उत्पन्न कुछ तरंगें और वीचियाँ हमें सतह पर भी देखने को मिल जाती हैं। ये तरंगें और लहरें ही हमारे दृश्य जगत की ऊर्जा-तरंग और विकिरण हैं जिनका प्रभाव हमारी इन्द्रियों पर पड़ता है और जो हमारे मस्तिष्क को क्रियाशील बनाते हैं। किन्तु जल की अगाधता तो इन तरंगों के बहुत नीचे प्रच्छन्न है। उसके विषय में निश्चित रूप से हम कुछ भी नहीं जानते और जो कुछ हम जानते हैं वह हमारा अनुमान मात्र है।'[1] 'उर्वशी' में पुरूरवा के इस कथन में सर जेम्स जीन्स के इसी विज्ञन की छाया दीख पड़ती है :

जो कुछ भी हम जान सके हैं यहाँ देह या मन से,
वह स्थिर नहीं, सभी अटकल-अनुमान सदृश लगता है।[2]

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'जब कुछ नहीं था तब क्या रहा होगा ?' नासदीय सूक्त के द्रष्टा ऋषि अपनी दार्शनिक शंका में उस मूल उत्स का अनुसंधान पाना चाह रहे थे जहाँ से सृष्टि की धारा चलती है। अब ऐसा लगने लगा है कि नासदीय सूक्त की अनुभूति भौतिकी द्वारा सत्य प्रमाणित हो जायगी। नव्य भौतिकी की भाषा में दिनकर कहते हैं :

स्यात्, सत्य ही, सृष्टि जहाँ से अंकुर फोड़ बढ़ी है,
जीवन के उस मूल-उत्स पर कुछ भी ठोस नहीं है।
जो कुछ है, ऊर्जा, तरंग है, माया है, छलना है।
हम अ-ठोस में ठोस जगत का सपना देख रहे हैं।
अँधियाली है रात, रज्जु अहि के समान लगती है।[3]

क्वांटम सिद्धांत हमें ऐसे विश्व में ले आया है, जहाँ गणित के प्रतीकों के सिवा और कुछ भी नहीं है। श्री नेहरू के शब्दों में : 'ठोस दुनिया पिघल कर गणित का कोई विचार अथवा छलना बन गयी है जो माया-सिद्धान्त के बहुत ही समीप है।' विज्ञान का ज्ञान अब छिछला नहीं रह गया है।

---

[1]**धर्म, नैतिकता और विज्ञान में उद्धृत, ६५।**
[2]**उर्वशी, ६३।**
[3]**कोयला कवित्व, ३६।**

इसलिए उसकी अकड़ धीरे-धीरे गायब हो रही है। यहाँ गांधी जी की एक बात याद आती है। उन्होंने कहा था कि ईश्वर के समक्ष महान से महान वैज्ञानिक भी तृणवत है।

वास्तविकता का असली स्वरूप

वास्तविकता का असली स्वरूप क्या है? इसी का अनुसंधान अब तक दार्शनिक भी करते आ रहे थे और इसी के अनुसंधान का प्रयास भौतिकी भी कर रही है। मानना होगा कि ये प्रयास अब तक अपूर्ण सिद्ध हुए हैं। किन्तु आज की भौतिकी के निष्कर्ष दर्शन के निष्कर्षों के बहुत समीप पहुँच गये हैं। नयी भौतिकी सबसे पहले देश और काल को परिवर्तनीय मानती है। जिस भौतिक जगत को हम आँखों या यंत्रों से देखते हैं, उसी को हम वास्तविकता का सही रूप में नहीं कह सकते हैं। सर जेम्स जीन्स का कहना है, असली वास्तविकता इससे परे है। जिसे हम वास्तविकता समझते हैं, वह उसकी प्रतीति (Appearance) मात्र है। जीन्स ने यह भी बतलाया है कि हमारे दृश्य जगत की सारी क्रियाएँ केवल बाह्य विश्व तक ही सीमित नहीं हैं। जेम्स जीन्स के अनुसार हम वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति से अनभिज्ञ रहते हैं और केवल उनकी विद्युत तरंगों का उद्घाटन करते हैं।[१] जगत एक नहीं, दो हैं। भौतिक विश्व के साथ-साथ एक आध्यात्मिक विश्व का भी अस्तित्व है। लगता है, नयी भौतिकी इस सत्य को अब मान लेगी। दिनकर उसे लक्ष्य कर कहते हैं :

> **जगत वहीं तक नहीं शेष, जितना तुम जान चुके हो।**
> **अच्छा है, यह भेद स्वयं तुम भी पहचान चुके हो।[२]**

परिवर्तित संस्कार

इतिहास का कोई भी नया युग तब तक नहीं आता है जब तक कि मनुष्य के संस्कार बदलने नहीं लगते हैं। संस्कारों का बदलना ही किसी नये युग के आगमन की पहचान है। मध्य युग धर्म के रथ पर चढ़ कर आया था। जब

---

[१]...the ultimate nature of things lies hidden and what we are finding is waves. [Jeans: The Mysterious Universe; p. 44]

[२]**कोयला और कवित्व, ३८।**

कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन आये तब धर्म का आसन हिलने लगा और ईश्वर की मौत हो गयी। न्यूटनीय सिद्धान्तों से भौतिकवाद को सहारा मिला और नास्तिकता की वृद्धि हुई। इस चिंताधारा ने संपूर्ण संसार के साहित्य को प्रभावित किया। धर्म और भगवान की मखौल उड़ाना नयेपन की पहचान हो गयी। किन्तु आइंस्टीन के समय से जब भौतिकी अथाह में पहुँचने लगी, तब उसकी अकड़ कमने लगी। ईश्वर के अस्तित्व में तो अभी भी वह विश्वास नहीं करता है, किन्तु अब उसे अपने ज्ञान पर शंका होने लगी है। नयी भौतिकी से परिवर्तित नये संस्कारों का प्रभाव मनुष्य की चिंतना पर पड़ने लगा है। यह विज्ञान का दूसरा चरण है। इस चरण में आ कर अंतरिक्षगामी मनुष्य का अहंकार कुछ शमित हुआ है, उसकी नम्रता बढ़ी है। यह नम्रता ही आस्तिकता का पहला सोपान है।

नये वसंत की पहली सुरभि

विज्ञान के इस दूसरे चरण में मनुष्य के परिवर्तित संस्कार को चित्रित करने का ऐतिहासिक कार्य हिन्दी कविता में पहली बार दिनकर ने किया है। यह कार्य उन्होंने कुछ बड़े फलक पर 'उर्वशी' में किया है, और 'कोयला और कवित्व' की दो कविताओं में उसी की झाँकी मिलती है। फिर भी यह कार्य अभी भी अधूरा है। किन्तु यह आशा बँधती है कि जिस प्रकार मध्य युग में धर्म और दर्शन की समग्र उपलब्धियों को आत्मसात कर तुलसीदास जैसा चिंतक कवि संभव हो सका था, उसी प्रकार हिन्दी में कोई ऐसा कवि जन्म लेगा जो आइंस्टीन के विश्व की सही-सही व्याख्या कर सकेगा। हिन्दी कविता में दिनकर इस नये वसंत की पहली सुरभि हैं।

आत्मा की आँखें

इस संग्रह की सभी कविताएँ लॉरेन्स की 'किसी न किसी कविता को देख कर गढ़ी गयी हैं।' इस संकलन की आलोचना दो धरातल पर की जानी चाहिए—एक धरातल है अनुवाद की विलक्षणता का और दूसरा है भाषा का। एक तीसरा धरातल भी विषय-वस्तु का हो सकता है, पर हमारी राय में यह काव्यालोचन का प्रमुख धरातल नहीं हो सकता है।

अनुवाद की विलक्षण कला

अनुवाद को शीशी का पानी कहा गया है। एक शीशी से दूसरी शीशी में ढालिए, कुछ न कुछ छलक ही जायगा। मूल के सभी भाव, सभी विचार, सभी बिम्ब, सभी मुहावरे, भाषा के सब विलक्षण प्रयोग अनुवाद में उतार देना शक्य नहीं है। बहुत कुछ छलक जाता है, बहुत कुछ रह जाता है। यह कठिनाई गद्य की है। फिर कविता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। कविता की भाषा, भाषा का सबसे सार्थक प्रयोग होती है। सही माने में उसका कोई भी दूसरा शब्द पर्यायवाची नहीं होता है। कवि के शब्द जीवन से ग्रहण किये जाते हैं और उसकी प्रतिभा की खराद पर चढ़ कर वे पारदर्शी एवं दिव्य बन जाते हैं। अतः कविता की चरम उपलब्धि भाषा की उपलब्धि होती है। सच्चा और श्रेष्ठ कवि अपनी भाषा के साथ इस प्रकार जुड़ जाता है कि वह अनुवाद-शक्य नहीं होता है। इसलिए कविताओं के अनुवाद का कार्य अत्यन्त कठिन माना जाता रहा है। तुलसीदास और शेक्सपियर को इसीलिए अपनी भाषा से विच्छिन्न कर समझा नहीं जा सकता है। पिछले दिनों जब हिन्दी के एक ख्यातिलब्ध कवि ने शेक्सपियर के कुछ नाटकों का

अनुवाद किया तो उसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने यह राय दी कि उस कवि ने शेक्सपियर के महान नाटक को नौटंकी बना डाला है।

दिनकर जी ने जब इन कविताओं का अनुवाद प्रारम्भ किया होगा, तो एक कवि होने के नाते उन्हें इन समस्याओं पर सोचने-विचारने का पर्याप्त अवसर मिला होगा। उन्होंने यह महसूस किया होगा कि प्रत्येक कवि अपने भौगोलिक परिवेश से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा होता है। उसके बिम्ब उसके भूगोल का अविभाज्य अंश होते हैं। उससे अलग कर उसकी कविता को समझा नहीं जा सकता है। उसी प्रकार जिस भाषा में वह लिखता है उस भाषा की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है जो उस भाषा को दूसरी भाषा से भिन्न और विलक्षण बनाती है। कोई भी कवि जब लिखता है तब जाने-अनजाने वह इन दो सीमाओं से बँधा रहता है। अतः अनुवादक के सामने दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि जिस कवि का वह अनुवाद कर रहा है उस कवि के अपने देश के कुछ अपने पेड़, पौधे, पशु, पक्षी आदि हैं जो अनुवाद की भाषा में खप नहीं सकते हैं। दूसरी कठिनाई जिस कवि का अनुवाद किया जा रहा है, उसकी भाषा की विलक्षणता से उत्पन्न होती है जिसका अनुवाद कई जगह पर तो किया ही नहीं जा सकता है। अतः अनुवादक यदि सामान्य प्रतिभा का होता है तो अनुवाद निष्प्राण और निर्जीव बना कर रह जाता है। उस अनुवाद को देख कर मूल कवि के सामर्थ्य की थाह पाना असम्भव बात है।

दिनकर जी की इस बात के लिए मुक्तकंठ से प्रशंसा की जानी चाहिए कि हिन्दी में अनुवाद मात्र, विशेषकर कविताओं के अनुवाद के धरातल को उन्होंने बहुत ऊँचा उठा दिया है। अनुवाद का काम तो हिन्दी में अनेक लोगों ने किया है, पर उसे रचनात्मक साहित्य के धरातल पर पहुँचाने का श्रेय केवल दो व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए—दिनकर और धर्मवीर भारती को। दिनकर जी के अनुवाद बासी नहीं लगते हैं। उन्हें अनुवाद की प्रकृति का अत्यन्त ही सूक्ष्म ज्ञान है। इस यज्ञ का शुभारम्भ उन्होंने 'सीपी और शंख' में ही किया था और 'आत्मा की आँखें' उसी का अगला चरण है।

'आत्मा की आँखें' की सभी कविताएँ इतनी सजीव और जीवन्त लगती हैं कि उन्हें अनुवाद कहना एक प्रकार का गुनाह है। दिनकर जी ने लॉरेन्स का आधार तो लिया है, पर उनकी स्वच्छन्दता इतनी निर्भीकता से संचरण कर सकी है कि लॉरेन्स के 'एसेन्स' से बना हुआ शरबत एकदम उनका अपना लगता है। असलियत तो यह है कि लॉरेन्स की ज्योति से उन्होंने अपना दीपक

जलाया है। 'रहस्यवाद' शीर्षक कविता लॉरेन्स की 'मिस्टिक' शीर्षक कविता का भावानुवाद है। इस अनुवाद में दिनकर ने लॉरेन्स से अनुभूतियाँ तो ली हैं, मगर समग्र कविता में उनकी अपनी अनुभूतियाँ अधिक दीख पड़ती हैं। सर्व-प्रथम लॉरेन्स 'रहस्यवादी' पर लिखता है, किन्तु दिनकर 'रहस्यवाद' पर लिख जाते हैं। इस स्थिति में मूल कविता से दिनकर की कविता का थोड़ा दूर हो जाना स्वाभाविक है। फिर उन्होंने उपमान के चयन में भी भारतीयता लाने की चेष्टा की है। लॉरेन्स की कविता में सेब से उपमा दी गयी है, दिनकर उसके लिए आम का प्रयोग करते हैं। 'टू मच सन' के लिए दिनकर ने 'सूरज की गर्मी' और 'लैगून-वाटर' के लिए 'धरती का रस' अनुवाद किया है। इसी प्रकार कुछ बिम्बों में परिवर्तन किये गये हैं, मगर दोनों कविताओं की भावनात्मक अन्तर्धारा एक ही है। चमत्कार इसलिए आ गया है कि दिनकर ने अपने कवि को लॉरेन्स के हाथ बेच नहीं दिया। ऐसा लगता है कि अपनी प्रकृति में उन्होंने लॉरेन्स से कुछ ले कर उसमें नवीनता और भारती-यता भर दी है। ऐसा लगता है कि दिनकर की कविता में यदि लॉरेन्स है तो वह भी एक नवीन लॉरेन्स है। शायद दिनकर में आया लॉरेन्स वैसा ही लॉरेन्स होता यदि उसकी जन्मभूमि भारत होती। कला की दृष्टि से दिनकर का 'रहस्यवाद' लॉरेन्स के 'मिस्टिक' से ज्यादा उत्कृष्ट लगता है। इसी को अनु-वाद में अनुवादक की आत्मा के रस का उतर जाना कहते हैं।

भाषा की दृष्टि से भी दिनकर की कविता सराहनीय है। शब्द-चयन अनुभूति को समेटे हुए हैं। लॉरेन्स की भाषा में उतनी सरलता नहीं है जितनी दिनकर में है।

'विचार' कविता लॉरेन्स की 'थाट' शीर्षक कविता का शब्दानुवाद है। लॉरेन्स की पहली दो पंक्तियों को छोड़ कर दिनकर ने करीब-करीब अन्य पंक्तियों का शब्दानुवाद कर डाला है। 'थॉट, आई लव थॉट' के लिये 'प्यारे, मुझे प्यारे विचार हैं।' शब्दानुवाद नहीं कहा जाना चाहिए। मगर दिनकर ने उस पंक्ति की आत्मा और उसकी लय को पकड़ लिया है। दूसरी पंक्ति में अनुवाद भावानुवाद ही है। 'वंट नॉट, दी जैगलिंग एंड ट्विसटिंग ऑफ ऑल रेडी एडिज स्टेंट आइडिया' के लिए दिनकर जी 'जो कहे जा चुके, फिर भी कहे जाते बार-बार हैं' अनुवाद करते हैं। ऐसा लगता है कि इस पंक्ति की आत्मा को दिनकर छू नहीं सके। इसकी लय भी उनकी पकड़ में नहीं आयी। फिर भी यह दोष नहीं माना जायगा। हो सकता है कि हिन्दी भाषा की प्रकृति ने यह व्यवधान उपस्थित किया हो जिसे केवल अनुवादक ही महसूस

कर सकता है। अन्य पंक्तियों में अनुवाद अत्यन्त ही उच्च कोटि का है। इस कविता का इससे अच्छा शब्दानुवाद इतनी सरल भाषा में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये 'थॉट इज़ गेज़िंग ऑन टू द फ़ेस ऑफ़ लाइफ़, ऐंड रीडिंग ह्वाट कैन बी रेड' का 'जिन्दगी के चेहरे पर टकटकी लगाना और पढ़ना, वह बात जो पढ़ी जा सकती हो।' के रूप में रूपान्तरित होना कितना सरल और साथ ही विलक्षण है। इस प्रकार दिनकर भावानुवाद और शब्दानुवाद दोनों ही क्षेत्र में मौलिकता और प्रतिभा का निदर्शन कर सके हैं। अनुवाद में अनुवादक ने अपनी आत्मा का रस उँड़ेल कर उसे जीवन्त बना दिया है।

बुनयादी हिन्दी

कविता का प्रायः सभी नया आन्दोलन बोलचाल की भाषा के समीप आने का आन्दोलन होता है। वर्ड्स्वर्थ ने इसी आन्दोलन की घोषणा की थी। कोई कविता एकदम वही भाषा तो नहीं होती, जो कवि बोलता है, पर उस भाषा से उसका सम्बन्ध दूर का भी नहीं होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा पर ही कवि अपने झरोखे और मेहराब बनाता है। इसीलिए प्रत्येक कविता का संगीत उस युग की बोलचाल की भाषा की कुक्षि से ही फूटता है। छायावादी भाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से नहीं के बराबर है। यह बात सुनने में बेतुकी लग सकती है, पर सत्य है कि छायावादी कवियों ने मृतभाषा में अपनी कविताएँ लिखीं। उस युग की कविताएँ लोकप्रिय न हो सकीं, इसके कारण अनेक बतलाये जाते हैं, पर सबसे मुख्य कारण यह है कि उसकी भाषा जीवित-सी नहीं लगती है। छायावादी कविता लोकप्रिय अब तक नहीं हो सकी है और इस बात की कोई सम्भावना भी नहीं दीखती कि उसे कभी लोकप्रियता मिल सकेगी। हमारे साहित्य के सहस्राधिक वर्षों के इतिहास में सबसे अधिक बनावटी भाषा का प्रयोग छायावादियों ने ही किया है।

इसीलिए नयी कविता का जब आन्दोलन चला तब कवि बोलचाल की भाषा के करीब आने का प्रयास करने लगे। इसका सीधा अर्थ यह है कि गद्य और पद्य की भाषा में बड़ी दूरी न होनी चाहिए। इलियट के अनुसार गद्य और पद्य की भाषा की एकता साहित्य के स्वास्थ्य की निशानी है। कविता गद्य पर से ही उठती है। उसकी विलक्षणता शब्दों के एक विशिष्ट क्रम से उत्पन्न होती है। वह विशिष्ट क्रम ही उसे गद्य से भिन्न भी करता है और पुनः यह भिन्नता गद्य से दूरी की चीज भी नहीं होती है। दिनकर ने 'आत्मा की आँखें' में भाषा

का यही विलक्षण रूप उपस्थित किया है। यह भाषा 'सरल, मुहावरेदार' चालू और पुरजोर' है 'जिसमें बनावट का नाम भी नहीं है।' यह भाषा गद्य से उठी है, फिर भी गद्य नहीं है। यथा :

ऊँचा वह है जो अपने पसीने से समाज को सींचता है।
और वह पापी है, जो गद्दी पर तोंद बजाता है
या पड़ा-पड़ा हुक्के का कश खींचता है।

ये पंक्तियाँ कविता ही हैं, पर गद्य में भी इनका रूप लगभग ऐसा ही रहेगा। अधिक से अधिक पहली पंक्ति को केवल इस रूप में लिखा जा सकता है : 'जो पसीने से समाज को सींचता है वह ऊँचा है।' बाद वाली दोनों पंक्तियाँ बातचीत में भी इसी तरह कही जा सकती हैं। इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी गद्य की महिमा से ही ज्योतित हैं :

वह तुम पर खूब सुहानी लगती है,
कमीज से झाँकती जो बालों की कतार है
यह अच्छा है कि तुम्हारे पाँव कड़े लगते हैं
चेहरा कुछ रूखा, लेकिन, रोबदार है।

ये पंक्तियाँ बोलचाल की ही भाषा हैं, फिर भी समग्रता में कवित्व की विलक्षणता आ गयी है। साहित्य के इतिहास में कभी-कभी विलक्षण घटनाएँ घटा करती हैं। अंग्रेजी साहित्य में यह घटना तब घटी जब अपने युग की किसी भी मौलिक पुस्तक से अधिक श्रेष्ठ भाषा का चमत्कार बाइबिल के 'ऑथराइज़्ड वर्शन' में दीख पड़ा। हमारी राय में छायावादोत्तर युग में भाषा की दृष्टि से 'आत्मा की आँखे' एक बड़ी उपलब्धि है।

एक विस्मयजनक बात

'आत्मा की आँखें' की कुछ कविताएँ जब पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं, तब अंग्रेजी के एक विद्वान मित्र ने बातचीत के क्रम में यह विस्मय प्रकट किया था कि दिनकर जी ने लॉरेन्स की कविताओं को अनुवाद के लिए क्यों चुना। उनका कहना था कि कवि के रूप में लॉरेन्स की कोई बड़ी ख्याति नहीं है। उस समय मैं कुछ देर तक इस बात पर सोचता ही रह गया था, किन्तु जब 'आत्मा की आँखें' पढ़ने को मिली, तब मैं आश्वस्त हुआ। 'आत्मा की आँखें' का कोई भी पाठक इस बात से प्रभावित हुए बिना न रहेगा कि लॉरेन्स एक

श्रेष्ठ कवि है। सच तो यह है कि लॉरेन्स ने उपन्यासकार के रूप में कुछ इतना बढ़िया और अच्छा लिखा कि यूरोप में कवि के रूप में उसकी कीर्ति दब गयी। यह लॉरेन्स का सौभाग्य है कि उसे दिनकर जैसा अनुवादक मिल गया। यह कौन बतला सकता है कि किस कवि का भाग्य कब और कहाँ जगेगा ? लॉरेन्स बुद्धिवाद का विरोधी था और मशीन की सभ्यता को वह अच्छी निगाह से नहीं देखता था। कुछ आश्चर्य नहीं कि उसका मूल्यांकन गांधी के ही देश में हुआ। स्वयं दिनकर जी इस बात को समझ सके हैं। भूमिका में वे लिखते हैं : "आत्मा की आँखें' में ज्यादातर ऐसी कविताएँ हैं जो यूरोप और अमेरिका में बहुत लोकप्रिय नहीं हो सकीं। किन्तु, मैंने खासकर उन्हीं को इस कारण चुना कि वे भारतीय चेतना के काफी आस-पास चक्कर काटती हैं।"

'आत्मा की आँखें' एक उल्लेखनीय रचना है।

मृत्ति-तिलक

इस पुस्तक में दिनकर जी की ऐसी कविताएँ संकलित हैं जिनमें से अधिकांश को कवि ने नहीं छपवाया या कुछ छपीं भी तो किसी संकलन में न आ सकीं। अवश्य ही ये कविताएँ लैण्डमार्क नहीं कही जा सकतीं।

गौण कविताओं का महत्व

बड़े से बड़े कवि की प्रेरणा सब समय समान धरातल पर संचरण नहीं करती। कलम बराबर, थक जाने पर, दायें हाथ से बायें हाथ में जाती रहती है। कुछ कविताएँ प्रत्येक कवि जबर्दस्ती लिखता है। कुछ कविताओं में प्रेरणा खूब घनीभूत नहीं हो पाती है, अतः अभिव्यंजना का धरातल पर्याप्त प्रांजल हो नहीं पाता है। ऐसी कविताएँ उस कवि की गौण कविताएँ मानी जाती हैं। अवश्य ही 'मृत्ति-तिलक' में संगृहीत कविताओं को हम दिनकर जी की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं मान सकते। पर ये उपेक्षणीय नहीं हैं। प्रत्येक कवि कविता के इतिहास में अपनी उन कविताओं के कारण जीता है जिन कविताओं ने पाठकों के एक बड़े समुदाय को उद्‌बुद्ध किया है। पर उसकी गौण कविताएँ उसके इतिहास के निर्माण की प्रक्रिया का अपरिहार्य अंश होती हैं। उसके काव्य-निर्माण के समस्त विस्तार की पूर्णता हैं ये गौण कविताएँ। दूसरे शब्दों में, किसी कवि को समझने के लिए उसकी प्रत्येक छोटी-बड़ी रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

स्वयं दिनकर जी ने यह संग्रह झिझकते हुए ही उपस्थित किया है। वे लिखते हैं: 'अब सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा है। अतएव, जो कविताएँ समेटी जा सकती थीं, उन्हें मैंने इस मंजूषा में समेट दिया है।'[१] किन्तु हम

[१] मृत्ति-तिलक : दो शब्द

उन्हें आश्वस्त करते हैं कि उन्होंने ऐसा कर आगामी इतिहासकारों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर दिया है। मेरा अनुमान है कि जब कोई अनुसंधित्सु दिनकर जी का प्रामाणिक जीवन चरित्र लिखना चाहेगा, तो इन कविताओं का एक दिन अद्‌भुत मूल्य कूता जायगा। इन कविताओं, में कवि के जीवन-चरित की अनेक रेखाएँ उग आयी हैं जिन्हें सहज ही अमृतराय जैसा जीवन-चरित-लेखक रंगों से भर सकता है।

कविताएँ : वर्गीकरण

इस संग्रह में सब २७ कविताएँ हैं जिनमें २० मौलिक और ७ अनूदित हैं। मौलिक कविताओं में एक कविता टंडन जी के प्रति है, एक 'पटना जेल की दीवार' से राजेन्द्र बाबू को सम्बोधित कर लिखी गयी है, तीन कविताएँ बापू के प्रति हैं, एक श्री माखनलाल चतुर्वेदी की स्तुति में लिखी गयी है। ये कविताएँ व्यक्तिपरक हैं। इनसे यह पता चलता है कि ये सभी पुरुष दिनकर जी की श्रद्धा के भाजन रहे हैं। 'भारत-व्रत' शीर्षक कविता रूसी नेताओं के दिल्ली-आगमन के अवसर पर विरचित है। दिनकर उन कवियों में नहीं हैं जिन्हें दूसरे की समृद्धि को देख अपनी हीनता का एहसास होने लगता है। उन्हें अपने रिक्थ का पूरा ज्ञान है। इस कविता में वे रूसी नेताओं से कहते हैं कि यदि संसार में सब जगह अनल है, तो उसे वे यहाँ की गंगा के जल से बुझा सकते हैं। कुछ कविताओं में स्वतंत्रता के उपरान्त नये भारत के आगमन की अभ्यर्थना है, कुछ कविताओं में विविध भाव-भंगिमाएँ हैं। एक कविता में कवि भूदान के नये संदेश का आख्यान करता है। संग्रह की सबसे पुरानी कविताएँ 'निर्वासित' (१९३५) और 'तंतुकार' (१९६९) हैं, और सबसे नवीन 'उर्वशी काव्य की समाप्ति पर'। यह कविता १९६१ ई० की २ जनवरी को लिखी गयी है। संग्रह का नामकरण 'मृत्ति-तिलक' शीर्षक कविता के आधार पर किया गया है। मिट्टी की ओर आने वाले कवि को अपनी मिट्टी से गहरा मोह है।

'इस्तीफा'

जब दिनकर जी का कोई प्रामाणिक जीवन-चरित लिखा जायगा, तब 'इस्तीफा' कविता का बहुत मोल कूता जायगा। दिनकर जी ने बिहार-सरकार के युद्ध-प्रचार-विभाग में काम किया था। दिनकर जी पर कई लोगों ने आलोचना के नाम पर कीचड़ उछाले। हमारे देश में यह कवि का दुर्भाग्य है कि लोग समझते हैं कि वह देवता होता है। उसकी अपनी कोई समस्या नहीं होती।

ये लोग यह नहीं समझते कि जिसकी पीठ पर बाल-बच्चे का बोझ होता है उसका पेट कविता से नहीं भरता। छायावादियों में किसी को भी गृहस्थी का बोझ नहीं ढोना पड़ा। प्रसाद जी विधुर रहे, निराला जी भी वैसे ही रहे, पंत जी ने विवाह नहीं किया, महादेवी ने पति से ही मोक्ष पा लिया। यदि वे पूरा गृहस्थ होते, तो कैसी कविता लिखते, यह तो अब अनुमान का ही विषय रह गया है। किन्तु दिनकर जी को इसका श्रेय मिलना चाहिए कि बाल-बच्चों की गठरी ढो कर भी वह अपनी सरस्वती को जीवित रख सके। उनकी कविता, सही मानी में, एक गृहस्थ की कविता है। स्वयं दिनकर जी प्रचार-विभाग में कुलबुलाते रहे। व्यंग्यों के बाण से वे जर्जर हो रहे थे। कृतज्ञता इस देश की अब कोई विशेषता नहीं रह गयी है। 'इस्तीफा' कविता में उनकी उस समय की मनःस्थिति का परिचय मिलता है। उनकी आत्मा भीतर से कछमछा रही थी :

विनय मान मुझको जाने दो,
शेष गीत छिप कर गाने दो,
मुझसे तो न सहा जायेगा अब असीम यह कोलाहल,
जो न सकूँगा पंक झेल, अब पी न सकूँगा ग्लानि-गरल।[1]

दिनकर जी का क्लेश इसलिए भी अधिक था कि समाज उनकी आलोचना निर्मम हो कर करता है। समाज यह तो देखता है कि उनके हाथ की ध्वजा गिर गयी है, यह नहीं देखता कि उनके स्वर से कैसी आग फूट रही है :

दुनिया कह कर चली गयी, क्यों ध्वजा गिरी तेरे कर से;
पूछा नहीं, अनल यह कैसा फूट रहा तेरे स्वर से।[2]

इस कविता में दिनकर जी की आत्मा का हाहाकार मुखर है।

'उर्वशी काव्य की समाप्ति' : एक उल्लेखनीय रचना

'उर्वशी काव्य की समाप्ति' कविता इसलिए महत्वपूर्ण है कि उससे 'उर्वशी' काव्य के अनेक रहस्यों पर प्रकाश पड़ता है। यह कविता पं० सुमित्रानन्दन पंत को पत्र रूप में लिखी गयी थी। आधुनिक काल में भावनाओं

---

[1] मृत्ति-तिलक, १६।
[2] वही, १७।

का ऐसा तारतम्य शायद किसी और कवि में नहीं मिलता है। दिनकर की भावधारा का विकासक्रम 'रेणुका' से 'उर्वशी' तक अनवरत अप्रतिहत चलता चला आया है। 'उर्वशी' काव्य एकबारगी ही नहीं लिखा गया। वह कवि के सुदीर्घ चिन्तन-मनन का परिणाम है। हमने इस पर अन्यत्र विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रकृत प्रसंग यह है कि इस कविता में 'औशीनरी' का रहस्य खुलता है। 'औशीनरी' एक ऐसी नारी है जिसकी भावदेह का निर्माण तो 'रसवंती' में ही हो चुका था, 'उर्वशी' में उसे हाड़-मांस का शरीर मिला। 'रसवंती' की 'नारी' शीर्षक कविता में चित्रित ग्रामवधू का ही सीधा विकास 'औशीनरी' में हुआ है। 'औशीनरी' में सती नारी के सभी गुण हैं। उसके प्रेम में एकनिष्ठता है, उसका उत्सर्ग सम्पूर्ण है; पर उसके चरित्र में दोष यह है कि वह दिन की खुली धूप में नहीं आती है और इसीलिए अप्सरा से सती नारी हार जाती है। दिनकर इसी को औशीनरी के जीवन की ट्रैजेडी का प्रमुख कारण मानते हैं। किन्तु दिनकर का यह दृष्टिकोण आकस्मिक विप्लव का परिणाम नहीं है। 'रसवंती' में ही उन्होंने औशीनरी की पदचाप पहली बार सुनी थी। 'रसवंती' की नारी शीर्षक कविता में औशीनरी की छाया 'ग्रामवधू' की तस्वीर में बहुत साफ उतरी है। वह गाड़ी के एक कोने में गठरी-सी सिमटी हुई बैठी है। कोई भी अंग कोई देख नहीं ले, इसलिए वह बड़ी सावधानी से अपने हाथ-पैर की उँगली को भी छिपाये हुए है :

> **लज्जाशील, सजीव धर्म की एक मूर्ति सकुचाती,**
> **बैठी है गाड़ी के कोने में सिमटी गठरी-सी।**
> **बड़ी सावधानी से अपने को हर तरह छिपाये,**
>
> × × ×
>
> **तन को, मन को और हाथ-पैरों की उँगली को भी।**
> **उसकी अन्तःकली खिली शीतल तम की छाया में,**
> **नहीं देख सकती वह दिन की खुली धूप को सुख से।[१]**

कवि इस नारी के प्रति श्रद्धा तो रखता है, पर उसके इस अतिशय अनावश्यक संकोच पर कुछ उबल भी पड़ता है :

---

[१] रसवन्ती, ४८।

जी करता है अपना पौरुष इज्जत उसे उढ़ा दूँ।
या कि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को,
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जायेगी।[१]

कठिनाई तो यह है कि उसके भीतर की यह लाल शिखा खूब जगती है। इसीलिए सती अप्सरा से हार जाती है। 'उर्वशी' काव्य की 'औशीनरी' इसी का सीधा और स्पष्ट विकास है। 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' कविता में दिनकर औशीनरी के सम्बन्ध में जो उपालम्भ देते हैं, उसका लक्ष्य यही है। उनके शब्दों में :

मिन्नतें बहुत की माया की,
युवती पुरूरवा-जाया की;
पर वह अजीब जिद्दी निकली,
अपनी शरारतों से न टली।
बैठ ही गयी ले कर यह प्रण,
पट का न करूँगी उन्मोचन।
पर मैं किवाड़ कूटता रहा,
पूरे बल से टूटता रहा।[२]

दिनकर की 'औशीनरी' की ट्रैजेडी का यह चारित्रिक दोष है।

'उर्वशी' जब प्रकाशित हुई, तो हिन्दी के पाठक यह विचिकित्सा करते रहे कि कौन-सा पात्र कवि का अपना प्रतिनिधि है। यों तो सभी पात्र कवि की ही निर्मिति होते हैं और उसकी सहानुभूति सब को कुछ न कुछ मिलती है। पर किसी विशेष पात्र को वह अपना अधिक स्नेह देता है। शेक्सपियर जैसे साहित्यकार की निर्वैयक्तिकता इस कोटि की है कि यह बतलाना कठिन है कि कौन-सा पात्र उनका प्रतिनिधि है। फिर भी पंडितों की यह राय है कि वे हैमलेट के सबसे करीब हैं। शेक्सपियर की आत्मा सबसे अधिक हैमलेट में ही रमती है। उसी प्रकार दिनकर की सहानुभूति तो अवश्य औशीनरी के साथ है, मुग्ध वे उर्वशी पर हुए हैं, चरितार्थता वे सुकन्या में देखते हैं; पर उनका प्रतिनिधि पुरूरवा ही है। 'उर्वशी' में भी कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे इस अनुमान को बल मिलता है। एक जगह पुरूरवा कहता है :

---

[१] रसवन्ती, ४६।

[२] मृत्ति-तिलक, ५३।

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं।[1]

यह अनुमान बहुत गलत नहीं कहा जा सकता कि यह 'सूर्य' दिनकर ही है। पर 'उर्वशी काव्य की समाप्ति' कविता में तो कवि ने बात को एकदम स्पष्ट कर दिया है। यथा :

तब महाराज! वह मान गयी,
यह भी पीछे पहचान गयी,
मैं ही पुरूरवा राजा था,
हाँ, तब अब से कुछ ताजा था।
था उसे खिलाता केवल घृत,
खुद मैं पीता था सोम-अमृत
उन दिनों रोग से खाली था,
मैं बड़ा पुष्ट, बलशाली था।[2]

'उर्वशी' का रचयिता कदाचित् संसार को बहुत अधिक जानता है। सत्य के महासमुद्र तक पहुँचने के लिए सभी नदियाँ एक ही रास्ते से नहीं जातीं। सत्य अनेकांत होता है। वह सभी शिखरों पर बसता है। इसीलिए कलाकार कोई एक समाधान नहीं देता। वह सभी रास्तों की ओर इशारा कर देता है। 'उर्वशी' का रचयिता भी अभिज्ञता की इसी सीमा तक पहुँचा है। इसीलिए वह कोई स्थूल समाधान नहीं देता। इस कविता में दिनकर कहते हैं :

पढ़ कर प्रेमी चकरायेंगे,
सीधे यह समझ न पायेंगे
मैं पुरूरवा हूँ या कि च्यवन,
अथवा मेरा नवयुग का मन
सहचर है परी वदान्या का
या औशीनरी सुकन्या का।[3]

'उर्वशी' प्राचीन कथा का पुनराख्यान नहीं है। प्राचीन कथा के कलेवर

---

[1]उर्वशी, ५३।
[2]मृति-तिलक, ५५।
[3]मृति-तिलक, ५७।

से नये युग की आत्मा झाँकती है। आधुनिक युग की समस्या प्रधानतः काम की है। आज के मनुष्य की सारी छटपटाहट उसी से जनमी है। दिनकर इस कविता में कहते हैं :

कहने भर को प्राचीन कथा,
पर इस कविता की मर्म-व्यथा
आज के विलोल हृदय की है,
सब की सब इसी समय की है।[१]

दिनकर अतीत से ज्योति ले कर दीपक अपने ही युग का जलाते हैं। प्राचीन कथा का आधार लेना मुर्दों को जिलाना नहीं है। वे कहते हैं :

'जब भी अतीत में जाता हूँ,
मुरदों को नहीं जिलाता हूँ।
पीछे हट कर फेंकता बाण,
जिससे कंपित हों वर्तमान।
खँडहर हो, हो भग्नावशेष,
पर, कहीं बचा हो स्नेह शेष,
तो जा उसको ले आता हूँ,
निज युग का दिया जलाता हूँ।[२]

अनुवाद

'मृत्ति-तिलक' में ७ कविताएँ अनूदित हैं। दिनकर जी के अनुवाद की यह विशेषता है कि वह बदरंग नहीं होता। यह दिनकर जी की उल्लेखनीय विशेषता है कि वे अनुवाद को कारयित्री प्रतिभा के स्तर पर पहुँचा देते हैं। 'मेरी विदाई' और 'सर्ग-संदेश' ये दोनों कविताएँ प्रवृत्ति की दृष्टि से राष्ट्रीय कही जायँगी। ये क्रमशः स्पेनिश कवि डॉ० जोज रिज्जल तथा मलयालम के कवि श्री वेणिकुलम गोपाल कुरुप की कविताओं के अनुवाद हैं। इसी प्रकार 'बरगद', 'राजकुमारी और बाँसुरी', 'प्लेग', 'गोपाल का चुम्बन' और 'विपक्षिणी' के कवि क्रमशः सर्वश्री गुजराती के बालकृष्ण दवे, नार्वेजियन के जार्मसन, यूनानी के एरिस्टोफेंस, अंग्रेजी के टेनिसन और मैथ्यू प्रायर हैं।

---

[१] मृत्ति-तिलक, ५८।

[२] वही, ५८।

'गोपाल का चुम्बन' एक विलक्षण कविता है। यदि यह बतला न दिया जाय कि यह अनुवाद है, तो पाठक उस दिशा में सोच भी नहीं सकता है। इस कविता को देख कर यह सही लगता है कि एक कवि के हाथ में पहुँच कर किसी दूसरे कवि की कृति वही नहीं रह जाती है। उसका कायाकल्प हो जाता है।

भाषा की कुछ विलक्षणताएँ

'मृत्ति-तिलक' भाषा और अभिव्यंजना की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय कृति नहीं है, फिर भी कहीं-कहीं वह विलक्षणता झलक मार ही जाती है जो श्रेष्ठ प्रतिभा की अपनी विशेषता होती है। प्रतिभा की एक पहचान यह भी है कि उसमें विस्फोट होता है। साधारण से साधारण बात में भी कहीं-कहीं ऐसी विलक्षणता झलक मार जाती है जो सामान्य मेधा में संभव नहीं है। 'मृत्ति-तिलक' में कहीं-कहीं भाषा की वह विलक्षणता है जो यह बतलाती है कि ये कविताएँ किसी बड़ी प्रतिभा की ही रची हो सकती हैं।

भाषा का सबसे बड़ा सामर्थ्य व्यंजना है। कम शब्दों में अधिक कह देना यह भाषा की प्रशंसनीय शक्ति मानी जाती है। मम्मट के शब्दों में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशायी होता है। यह गुण 'मृत्ति-तिलक' की कविताओं में है। 'गोपाल का चुम्बन' कविता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। सारी कविता में शिकायत ही शिकायत है। राधा (या एक गोपी भी) गाय दुह रही है। कृष्ण उसकी बेबसी का लाभ उठा कर चूम लेते हैं। राधा कृष्ण को भला-बुरा कहती है, छिः-छिः कह कर धिक्कारती है। सारी कविता में, लगता है, शिकायत ही शिकायत है। पर इस शिकायत के अभ्यंतर में प्रीति की धारा प्रवाहित होती है। इसका पता केवल एक शब्द से चलता है—'मैं क्या थी जानती, छिपा है यहीं कहीं चितचोर।' यह चित्तचोर सारा रहस्य अनावृत्त कर देता है।

कहीं-कहीं भाषा का सामर्थ्य विलक्षण है। 'एक भारतीय आत्मा के प्रति' में कवि की एक पंक्ति है : 'बेतों को रेखाएँ रंगों में बोल उठीं'। यह पंक्ति बतलाती है कि माखनलाल चतुर्वेदी की कविता में जो ज्योति है, वह जीवन की पीड़ा से फूटी है। स्वाधीनता के संग्राम में बेंत की चोट खाये हुए कवि की कविता में कल्पना की रंगीनी नहीं, अनुभूति का ताप है। इस पंक्ति की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। उसी प्रकार 'मन उड़ा, किन्तु धँस पड़ी देह', भी विलक्षण प्रयोग है। एक और पंक्ति है : 'मैं घोर चिंतना में धँस कर, पहुँचा भाषा के उस तट पर।' कवि का रूपक यह है कि चिंतना कोई नदी है, जिस

प्रकार कोई गोताखोर नदी में एक ही डुबकी लगा कर दूसरे तट पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार कवि भी चिंतना की नदी में धँस कर भाषा के दूसरे तट पर पहुँच गया। पुनः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उर्वशी की भाषा उसकी भावना की कुक्षि से जनमी है। 'धँस कर' विचक्षण प्रयोग है।

संक्षेप में, 'मृत्ति-तिलक' उपेक्षणीय कृति नहीं है।

उपलब्धि और सीमा

छायावाद की बाढ़ जब उतरने लगी थी तब दिनकर आये । 'हुंकार' जब छपी तब तक छायावाद-युग का अन्त हो चुका था । बाढ़ जब आती है तब जल गन्दा हो जाता है, किनारे टूट-फूट जाते हैं और जल से गन्दी चीज भी बह कर साथ बहुत आ जाती है। इसलिए छायावाद जब तक रहा उसकी त्रुटियाँ बेरहमी से देखी गयीं और उसका सामर्थ्य कम लोगों ने समझा । छायावाद के अधिकांश कवियों की अनुभूति नकली थी और उस नकली अनुभूति को वे एक बनावटी भाषा में प्रकट कर रहे थे । जब यह आन्दोलन अपने प्रकर्ष पर था तब हजारों लोग हिन्दी में कविताएँ लिख रहे थे और मित्र-मंडली में उन्हें प्रशंसा भी पर्याप्त मिल रही थी । किन्तु यह तो बाद में पता चला कि कविता लिखने वाले हजारों लोग कवि नहीं थे । बाढ़ के उतर जाने पर उसके चार प्रमुख कवियों को मान्यता मिली और आठ से अधिक गौण कवियों की याद भी नहीं रखी गयी । सब मिला कर एक दर्जन से अधिक कवि कविता के इतिहास में अपना स्थान नहीं बना सके ।

हमारे इतिहास में छायावाद की बृहत्त्रयी को युग-प्रवर्तक का स्थान मिल गया है । उनमें से कोई भी निर्दुष्ट नहीं है । जयशंकर प्रसाद की कविता यथार्थ जीवन की समस्याओं से ठीक-ठीक जूझ नहीं सकी । यद्यपि देश की सांस्कृतिक परम्परा को उन्होंने पूर्णतया स्वायत्त किया था और उनसे यह आशा की जाती थी कि वे समकालीन भारतीय जीवन के पूर्ण व्याख्याता बन सकेंगे पर यह कार्य उन्होंने आंशिक रूप में ही किया । उनके पास वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है । निराला की प्रतिभा सबसे प्रखर है पर क्रमबद्धता उनकी कोई विशेषता नहीं है । उनकी रचनाओं में आभ्यन्तरिक अन्विति का अभाव है । यों कविताओं में जितने आयामों का संकेत उनमें मिलता है उतना रवीन्द्रनाथ में

भी नहीं है। किन्तु रवीन्द्रनाथ की सहज उदात्तता का उनमें अभाव है। सुमित्रानंदन पंत ने भाषा को चिकनी और मुलायम बनाया और छायावाद के पूर्वार्ध में सबसे प्रसन्न रचनाएँ उन्होंने लिखीं; पर बाद में अपनी कविताओं की सहज प्रसन्नता वे खो बैठे। किन्तु ये तीनों कवि निःसन्देह युग-प्रवर्तक हैं और अपनी त्रुटियों में महान हैं। निराला और प्रसाद न केवल एक जीर्ण परम्परा को ही ध्वस्त करते हैं, अपितु एक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह भी करते हैं और कविता को उन्होंने इसके लिए माध्यम बनाया। उनका विद्रोह अधिक व्यापक और गहरा है, कम से कम उससे अधिक गहरा जितना हम उसके विषय में सोचते आये हैं। पंत, हिन्दी कविता में प्रकृति की संसद (बर्नाड शॉ के शब्दों को चुराने की यदि अनुमति मिले) के पहले सदस्य हैं। दिनकर इस ऊँचाई तक नहीं पहुँचते हैं। आधुनिक काव्य में विद्रोह की चर्चा सबसे अधिक उन्हीं के प्रसंग में हुई, किन्तु सबसे कम विद्रोह उन्हीं की कविता में मिलता है। छायावाद की बृहत्त्रयी की तुलना में उनका विद्रोह सतही है। युग-प्रवर्तक का श्रेय उन्हें नहीं दिया जा सकता। वे नेता नहीं, मात्र प्रतिनिधि हैं।

हमने प्रमाणित किया है कि दिनकर मूलतः सुकुमार कल्पना के कवि हैं। और तो और, उनकी राष्ट्रीय कविताओं में भी उस सुकुमार कल्पना का वैभव देखने को मिलता है। इसी कोण से उनकी राष्ट्रीय कविताओं को कला की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कहा जा सकता है। शिल्प के धरातल पर वे सब जगह वस्तुगत प्रतिरूप स्थापित करने में सफल नहीं रहे हैं। बाद में चल कर स्वयं वे राष्ट्रीयता को कोई बहुत ऊँचा तत्व नहीं समझने लगे। अब तो वे मानते हैं कि जिस प्रकार एक भैंस दूसरी भैंस को अपने खूंटे पर नहीं आने देती, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना भी होती है। 'चक्रवाल' की भूमिका में भी उन्होंने लिखा कि 'राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जनमी और उसने मुझे बाहर से आ कर आक्रान्त किया।' स्पष्ट ही दिनकर समय की डाल से छूट गये हैं और इन कथनों में उसे पकड़ने की चेष्टा करते रहे हैं। हम इस बात के कायल नहीं हैं कि उनका मूल्यांकन राष्ट्रीय कवि के ही रूप में किया जाय। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि किसी व्यक्ति के विचारों के छोड़ कर केवल उसकी कविता में ही रस लिया जाये, खासकर वैसे विचारों की उपेक्षा कर जो आजीवन उसके प्रिय रहे हैं और जिसके लिए उसने कविताएँ लिखीं। दिनकर अपने विचारों से इतने सम्बद्ध हैं कि उन्हें उससे अलग कर समझा भी नहीं जा सकता है और राष्ट्रीयता कोई ऊँचा तत्व नहीं है। उनकी

राष्ट्रीय भावना सांस्कृतिक संस्कारों से परिवेष्टित कम ही जगह हो सकी है। इस बात का शायद ही विरोध हो सकता है कि उच्च कोटि की सांस्कृतिक चेतना काव्य-कला की अपनी भूमि है और प्रखर राष्ट्रीयता—खाँटी राष्ट्रीयता—कविता में आ कर कविता को झंडावादी और नारावादी बना देती है। इसलिए तुलसीदास की तुलना में भूषण घटिया कवि हैं। उसी प्रकार जयशंकर प्रसाद की तुलना में दिनकर द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। हम मानते हैं कि कविता का चरम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण है और ऊँचे विचारों के कारण ही ऊँची कविता नहीं बनती है। किन्तु उसके सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसे अपने विचारों से बड़ा मोह है, जिन विचारों का वह स्वयं बड़ा महत्व कूतता है, किन्तु जिसके विचार प्रथम श्रेणी के नहीं हैं। हम भैंस वाले सादृश्य को सुरुचि और सौन्दर्य-बोध का खयाल रखते हुए बार-बार दुहराना नहीं चाहते।

दिनकर ने दार्शनिक कविताएँ भी लिखी हैं, किन्तु उनकी महिमा कविता की ही महिमा है। उनकी कविता सत्य है, उनका दर्शन मिथ्या। अवश्य ही दार्शनिक कविताएँ लिखना उनके सामर्थ्य के बाहर की बात है। दार्शनिक कविताएं उपनिषदों में सफलतापूर्वक लिखी गयीं और बाद में उसका प्रकर्ष गीता में हुआ। दार्शनिक कविताएँ लिखने में सफलता रवीन्द्रनाथ और अरविन्द को भी मिली है। यह श्रेय इलियट साहब को भी दिया जाना चाहिए। अवश्य ही दिनकर उपनिषदों के रचयिता और गीताकार तथा रवीन्द्र, अरविन्द और इलियट की गैलरी में बैठने के अधिकारी नहीं हैं। ये लोग कविता के पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर हैं और दिनकर इनकी तुलना में बौने से भी अधिक छोटे हैं। यह भी ठीक है कि 'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना न तो रवीन्द्र और अरविन्द ने की है और न इलियट ने। किन्तु यह भ्रम तो किसी अर्धशिक्षित व्यक्ति को ही हो सकता है कि दिनकर संस्कृति के रवीन्द्र, अरविन्द और इलियट से बड़े व्याख्याता हैं। दिनकर प्रसाद, पंत और निराला नहीं हैं; वे सब-रजिस्ट्रार थे और बाद में अध्यापक हो गये। वर्षों तक वे संसद के सदस्य रहे और एक संसद-सदस्य को संस्कृति का जितना अच्छा ज्ञान हो सकता है उतना अच्छा ज्ञान दिनकर को भी है। इसलिए उनकी दार्शनिक कविताएँ उस मानस से नहीं निकली हैं जहाँ विचार ढल कर स्वयं कवित्व की महिमा से मंडित हो जाते हैं।

दिनकर ने कविता से बहुत काम लेना चाहा है जिसके लिए वह उपयुक्त नहीं है। वे लिखते हैं : 'कविता ने संसार की बड़ी सेवा की है। यह दुख में आँसू, सुख में हँसी और समर में तलवार बन कर मनुष्यों के साथ रही है।

मनुष्य की चेतना को ऊर्ध्वमुखी रखने में कविता का बहुत प्रबल हाथ रहा है। स्वयं कवि ही पारिजात का वह पुष्प है जो स्वर्ग का सन्देश ले कर पृथ्वी पर उतरा है। कवि जड़ विश्व को अपने स्वप्न के रँग से रँगने वाला चित्रकार है; संसार उसकी कल्पना में अलौकिकता प्राप्त करता है। सफल कवि दृश्य और अदृश्य के बीच का वह सेतु है जो मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है।'[1] अवश्य ही इसका यह निष्कर्ष निकलेगा कि कविता एक मात्र रामबाण है जिससे मनुष्य की सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। स्वयं दिनकर ने अपनी कविताओं में वही प्रयास किया है। कहना न होगा कि इस प्रयास को असफल होना ही था। उनकी कविताएँ उपदेशात्मक बन गयी हैं। अपनी आलोचनाओं में भी वे ईसा की वकालत करते हैं। वे लिखते हैं: 'सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।[2] यह दृष्टिकोण ही गलत है। नैतिकता संत और पैगम्बर के लिए एक प्राथमिकता है, किन्तु कवि के लिए वह शायद ही प्राथमिक महत्व की चीज हो।

दिनकर की कविताएँ अधिकतर वे लोग पढ़ते हैं जिनकी मसें भींगती हैं और जो यौवन की पहली कुलबुलाहट महसूस करते हैं। वे किशोरों के कवि हैं। किशोरावस्था में मनुष्य रंगीनी भी पसन्द करता है और ऊँचे आदर्शों की ओर दौड़ता भी है। इसलिए दिनकर की कविताएँ किशोरों को अच्छी भी लगती हैं और वे उसकी नीति और उपदेश को पसन्द भी करते हैं। किन्तु प्रौढ़ावस्था में आदमी वैसा नहीं रहता है। तब कविताओं में वह कुछ और खोजता है जो केवल उपदेशों से प्राप्त नहीं हो सकता। नीति और उपदेश अपने आप में उपेक्षणीय नहीं हैं और न ऐसी बात है कि उनके आने से कविता एकदम घटिया ही बन जाती है। कविता में नीति और उपदेश यदि आते हैं, तो आयें, किन्तु उनके आने से कवित्व के सरोवर को विक्षुब्ध नहीं होना चाहिए। उसी प्रकार विचार यदि आते हैं तो उन्हें भी सुसम्बद्ध, प्रौढ़ और अनुभूति के ताप से ज्योतित होना चाहिए। नीति और उपदेश की ही बात ली जाय तो इसका तुलसीदास से अधिक उपयोग कविताओं में शायद ही किसी

---

[1] मिट्टी की ओर, ५४।

[2] वही, ५९।

दूसरे कवि ने किया हो और यदि विचारों का सवाल उठेगा तो इस क्षेत्र में भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता शायद ही किसी दूसरे कवि से हो सकती है। फिर भी उनकी नीति और उनके उपदेश से भिन्न हम उनकी कविता में रस लेते हैं और उनके विचारों को न मानते हुए भी इस बात के कायल हैं कि वे प्रौढ़, सुसम्बद्ध और अनुभूति के ताप से मंडित हैं। यह बात दिनकर के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। उनकी उपदेशात्मकता में वह गरिमा नहीं है जो तुलसीदास को सहज प्राप्य है और विचारों में अन्विति और तारतम्य उनकी कोई विशेषता नहीं है।

अन्विति और तारतम्य केवल विचारों तक ही सीमित नहीं होते। साहित्य के शिल्प के साथ उनका अपरिहार्य सम्बन्ध है। जिसके विचारों में तारतम्य नहीं होता, उसका शिल्प भी विशृंखल होता है। विचार उठाने वाले कवि में प्रबन्ध की प्रतिभा होती है और चित्र उठाने वाले कवि की प्रतिभा मुक्तक की प्रतिभा होती है। दिनकर की प्रतिभा का रुझान प्रबन्ध की ओर है। चूँकि उनके विचार असम्बद्ध हैं, उनमें अन्विति का अभाव है, इसलिए उनकी प्रबन्ध-योजना भी विशृंखल है। 'कुरुक्षेत्र' में क्षेपकों की मात्रा बहुत अधिक है। जगह-जगह कवि पुराण की पटरी से उतर जाता है और समकालीन युग की प्रत्यक्ष चर्चा करने लगता है। काल की एकता के टूटने से प्रभाव की एकता भी भंग हो जाती है। कथोपकथन उसके फीलपाँवी हैं। उसके पात्र उसी के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के 'माउथ पीस' बन जाते हैं। उसके पात्रों को व्यक्तित्व नहीं मिल पाता है। 'रश्मिरथी' की सर्ग-योजना 'कुरुक्षेत्र' की तुलना में अधिक कलात्मक है; पर कर्ण पर लिखते-लिखते कवि गांधी की भी बात लिख जाता है। 'रश्मिरथी' के प्रबन्ध में कवित्व का वह उत्कर्ष नहीं है जिसके कारण ही प्रबन्ध या मुक्तक की महिमा होती है। 'उर्वशी' की शिल्प-योजना में भी समग्र रूप में प्रथम श्रेणी की प्रतिभा का दर्शन नहीं होता है। प्रथम श्रेणी की प्रतिभा की एक सीमा यह होती है कि वह पूर्ण निर्दोष नहीं होती है। किन्तु इस न्याय से दिनकर प्रथम श्रेणी के कवि नहीं बन जायँगे। उनकी अभिव्यंजना का धरातल सम नहीं है। यह असमानता इतनी अधिक है कि कभी-कभी बुद्धि जवाब दे देती है। 'उर्वशी' के कुछ अंश हमारी कविता के समग्र इतिहास के सबसे ज्वलंत पृष्ठ हैं। किन्तु बहुत जगह कविता इतनी साधारण बन गयी है कि विश्वास नहीं होता कि उसका रचयिता भी वही व्यक्ति है। इतनी असम अभिव्यंजना प्रथम श्रेणी की प्रतिभा की पहचान नहीं है। 'कामायनी' के सभी सर्ग अभिव्यंजना का एक ही उत्कर्ष नहीं

रखते हैं, किन्तु उसका कोई सर्ग ऐसा नहीं है जिसे देखकर यह कहा जा सके कि इसे जयशंकर प्रसाद के सिवा और भी कोई व्यक्ति लिख सकता है। किन्तु 'उर्वशी' के कुछ अंश तो ऐसे हैं जिसे कोई भी लिख सकता है। धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' में अभिव्यंजना का धरातल विलक्षण रूप से सम है। उसकी तुलना में 'उर्वशी' घटिया कृति है। 'उर्वशी' की कुछ पंक्तियाँ श्रेष्ठतम कविता का उदाहरण हैं और सरस्वती अपने पूरे उत्कर्ष के साथ वहाँ राजती हैं। किन्तु 'उर्वशी' महान कलाकृति नहीं है। पृष्ठ ४८ से प्रारम्भ होने वाले पुरूरवा के कथन में कवित्व का जो उत्कर्ष है वह 'कनुप्रिया' में कहीं नहीं है। फिर भी निर्माण की दृष्टि से 'कनुप्रिया' श्रेष्ठतर है। हम यह नहीं कहते कि शिल्प की दृष्टि से दिनकर के सभी प्रबन्ध-काव्य असफल हैं; हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हर असफल प्रबन्धकार दिनकर की ही तरह लिखता है।

दिनकर की कविताओं में बहुत कुछ भरती का होता है। बीच-बीच में प्रतिभा जोर से झलक मारती है और अभिव्यंजना का चमत्कार वाक्य-खंडों में प्रकट हो जाता है। फिर भरती के पद आने लगते हैं। इसलिए हम कविता का पूरा रस नहीं ले पाते हैं। अच्छी से अच्छी अभिव्यंजना भी भरती के पदों के बीच जा कर अपना जादू खो बैठती है और हमारा आनन्द खंडित हो जाता है। संक्षिप्ति की गरिमा उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है।

दिनकर अपनी कविताओं में विचारों का बहुत पागुर करते हैं जिससे कि उनका कलात्मक स्तर गिर जाता है। उनके विचार शायद ही कहीं चित्र बन पाते हैं। अवश्य ही 'उर्वशी' इसका अपवाद है। उन्हें परमोच्च कोटि का सहज प्रातिभ नहीं मिला है जिससे कविता सहज ही चमक उठती है और न वह मानसिक अनुशासन, संक्षिप्ति और प्रतिपन्नता प्राप्त है जिससे दार्शनिक मनीषा का निर्माण होता है। पद्य के संगीतात्मक तत्वों को दिनकर ठीक-ठीक समझ पाते हैं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। छायावादियों की तुलना में उनकी श्रवण-संवेदना शिथिल और भोथी है। उनकी कविता आभ्यन्तरिक प्रशान्ति की कविता नहीं है और न आचरण ही बहुत निष्पाप दीखता है। कविता में आभ्यंतरिक प्रशान्ति धर्म की शीतलता से आती है, किन्तु दिनकर की कविता धर्म की तुलना में नीति-अनीति की विचिकित्सा में अधिक पड़ी है। वे न तो क्रांतिकारी हैं और न प्रतिगामी। वे केवल दो पीढ़ियों के बीच का शून्य भरने का प्रयास भर करते रहे हैं।

भाषा उनकी स्वच्छ है। यह उनका सबसे बड़ा सामर्थ्य है। किन्तु उनकी

कविता का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम उसे पूरी तरह समझ जाते हैं। कॉलरिज की एक बात याद आती है—कविता सबसे अधिक आनन्द तब देती है जब हम उसे पूरी तरह न समझ कर मोटे तौर पर ही समझते हैं। कविता में अर्थ की कई परत होती है और हर परत को पूरी तरह नहीं समझना आनन्द को अधिक बढ़ा देता है। इससे कविता का आकर्षण और बढ़ जाता है। कविता साहित्य का निचोड़ है और उसे थोड़ा अस्पष्ट रहने में अधिक महिमा प्राप्त होती है। साहित्य, और खासकर कविता, का भी सबसे बड़ा दोष यह हो सकता है कि वह मनोरंजन न करे। दिनकर पर शायद ही यह दोषारोपण उनका बड़े से बड़ा विरोधी भी कर सके।

लोकप्रियता उन्हें मिली और खूब मिली। उनकी कविता को एक बड़े समुदाय ने पसन्द किया और वे कीर्ति के ज्वार पर चढ़े। यह तो जानी हुई बात है कि कविताओं के सम्बन्ध में अधिकांश लोगों का सौंदर्य-बोध दूषित और अपरिष्कृत होता है। मिलावट की चीजें उन्हें पसन्द होती हैं और हम यह भी देखते हैं कि पीढ़ी दर पीढ़ी पाठकों का अप्रशिक्षित समुदाय अपने समय में खाँटी चीजों की अपेक्षा मिलावट की चीजों को अधिक पसन्द करता है। दिनकर की लोकप्रियता की यही युक्तिसंगत व्याख्या हो सकती है। यों भी लोकप्रियता श्रेष्ठ कविता की कोई कसौटी नहीं है।

छन्द पर उन्हें अच्छा अधिकार है और गद्य वे बड़ा ही मँजा हुआ लिखते हैं। 'उर्वशी' उनकी एक ऐसी कृति है जो बाद वाली पीढ़ियों द्वारा पढ़ी तो जायगी ही। किन्तु उनकी ख्याति कभी ऐसी नहीं रही कि उनकी तुलना छायावाद की बृहत्त्रयी से की जा सके। वे छायावाद के उतार के कवि हैं। उनकी अभिव्यंजना का द्रव्य छायावाद की रसायनशाला से आया है। उनकी कविता का रंग छायावाद की कटोरी का रंग है। किसी कवि की महानता कोई निस्संग चीज नहीं होती है। यह तो देखना ही होगा कि इतिहास के फ्रेम में वह कहाँ फिट होता है। किसी कवि की महानता उसके इतिहास की महानता से पृथक वस्तु नहीं है। जयशंकर प्रसाद हमारे इतिहास के अपरिहार्य अंश हैं, दिनकर केवल महत्वपूर्ण शेषांश।